द्रौपदी

अकादेमी के अन्य हिन्दी प्रकाशन

(मूल भाषाओं का नाम कोष्ठक में अंकित है)

१. भारतीय कविता : १९५३	(भारत की १४ भाषाओं की कविताओं का लिप्यन्तर और अनुवाद)	५·००
२. केरल सिंह (मलयालम)	का० मा० पणिक्कर	३·००
३. भगवान् बुद्ध (मराठी)	धर्मानन्द कोसम्बी	५·००
४. मिट्टी का पुतला (उड़िया)	कालिन्दीचरण पाणिग्राही	२·००
५. कांदीद (फ्रेञ्च)	वाल्तेयर	२·००
६. दो सेर धान (मलयालम)	तकषी शिवशंकर पिल्लै	२·००
७. गेंजी की कहानी (जापानी)	मुरासाकी शिकाबू	४·५०
८. आरण्यक (बंगला)	विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय	४·००
९. आरोग्य निकेतन (बंगला)	ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	६·००
१०. अमृत सन्तान (उड़िया)	गोपीनाथ महान्ती	१२·००
११. आदमखोर (पंजाबी)	नानक सिंह	५·००
१२. वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी)	लक्ष्मण शास्त्री जोशी	५·५०
१३. क्या यही सभ्यता है? (बंगला)	माइकेल मधुसूदन दत्त	१·५०
१४. नारायण राव (तेलुगु)	अडवि बापिराजू	६·००
१५. आज का भारतीय साहित्य	(भारत की १६ भाषाओं के साहित्य का परिचय)	७·००

जीवी

(गुजराती भाषा का आंचलिक उपन्यास)

मूल लेखक

पन्नालाल पटेल

अनुवादक

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

साहित्य अकादेमी की ओर से

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

साहित्य अकादेमी नई दिल्ली
की ओर से
राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित

891.473
P 295-J

प्रथम हिन्दी संस्करण
जनवरी, १९५८

मूल्य रुपये ४.५०

13242 | 03 N
STATE CENTRAL LIBRARY
WEST BENGAL
CALCUTTA
11.3.65

नवीन प्रेस, दरियागंज, दिल्ली में मुद्रित

समर्पण

●

स्वर्गवासी पिता और माता को

●

जीवन में रह गई लालसा शेष यह
कहकर पिता बुलाऊँ तुमको तात मैं
धन्य भाग्य ! वह अवसर आया आज जो
और पूज्य माँ तुम थी इतना चाहतीं
देख सको मुझको बस, चिट्ठी बाँचता
क्या कहता है यदि जवाब में लिख सकूं
(हुआ विधाता वाम) स्वर्ग में ही सही
तब अपूर्ण इच्छा को पूरा आज मैं
कर पाऊँ तो मेरा जीवन सफल है ।

●

लेखक का वक्तव्य

विद्वानों द्वारा निर्मित साहित्य अकादेमी ने 'मळेला जीव' को भारत की अन्य भाषाओं में अनुवाद करने के लिए चुना है, यह जानकर मुझे जितना आनन्द हुआ, उतना ही अपनी सृजन-प्रवृत्ति के प्रति सन्तोष भी हुआ।

लेकिन दूसरी ओर मुझे यह आशंका भी थी—'भगवान् जाने पुस्तक की जनपदीय शब्दावली, गुजरात का ग्राम्य वातावरण और उसके अतिरिक्त कृषक-समुदाय की विशिष्ट भाषा-प्रणाली आदि जो बातें लोक-जीवन का अनुभव न रखने वाले गुजराती विद्वानों को भी कुछ देर के लिए असमञ्जस में डाल देती हैं, उन्हें अन्य भाषाओं के विद्वान् कहाँ तक समझ सकेंगे और कहाँ तक उनको अनुवाद में ठीक-ठीक उतार सकेंगे।'

उसमें भी, जिस भाषा से देश की अन्य अधिकांश भाषाओं में इस कृति का अनुवाद होने की सम्भावना है, ऐसी हिन्दी भाषा में होने वाले अनुवाद-सम्बन्धी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के बारे में तो मुझे पर्याप्त भय था। और इसीलिए मेरी यह इच्छा थी कि इसका अनुवाद किसी ऐसे विद्वान् से कराया जाय जो इन सब बातों को भली-भाँति समझता हो।

तभी मुझे एक दिन अचानक आगरा कॉलेज के हिन्दी-प्रोफेसर श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने साहित्य अकादेमी द्वारा प्रदत्त 'मळेला जीव' के अनुवाद-कार्य का उल्लेख करते हुए लिखा था कि वे उस अनुवाद को अकादेमी को देने से पहले मुझे

दिखाने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं। अतः मैं उन्हें बता दूँ कि मुझ से कहाँ और कैसे भेंट हो सकती है ?

यह पढ़कर मुझे निश्चय ही आनन्द हुआ। कारण, इस पत्र के लिखने में 'कमलेश' जी की सुजनता तो थी ही, उनकी अनुवाद-सम्बन्धी सतर्कता और प्रेम भी स्पष्टतया प्रकट हो रहे थे। परन्तु इससे भी अधिक उनकी आग्रह पूर्वक की गई मिलने की प्रार्थना के मूल में मुझे तो उनकी इस कार्य-विषयक श्रद्धा ही दिखाई दे रही थी।

इस बीच मुझे अचानक दिल्ली जाना पड़ा। साथ ही एक दिन के लिए आगरा जाने और श्री 'कमलेश' जी का अतिथि होने का संयोग भी आ उपस्थित हुआ। उसी समय मुझे अनुवाद देखने का अवसर मिला।

अपने कॉलेज के अध्यापन में व्यस्त रहते हुए उन्होंने जो तीन-तीन बार अनुवाद करने का श्रम किया है और उसके फलस्वरूप अनुवाद में प्रासादिकता, दोनों भाषाओं का पाण्डित्य, कृषकों की भाषा-प्रणाली के साथ उनके समग्र जीवन की जानकारी आदि जो बातें प्रकट हुई हैं, उन्हें देखकर मुझे तो इतना अधिक सन्तोष हुआ कि मैंने अपने मन-ही-मन साहित्य अकादेमी का इस बात के लिए आभार माना कि उसने श्री 'कमलेश' जी—जैसे योग्य व्यक्ति को यह कार्य सौंपा।

मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि यह अनुवाद हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं के समस्त विद्वानों की ओर से श्री कमलेश जी को यश दिलायगा।

मायडली, डूँगरपुर (राजस्थान)
अक्षय तृतीया, २०१३ विक्रमी

—पन्नालाल पटेल

अनुवादक की ओर से

गुजराती के प्रख्यात उपन्यासकार श्री पन्नालाल पटेल का यह उपन्यास राजस्थान और गुजरात के सीमा-प्रदेशवर्ती एक गाँव पर आधारित है और इसमें आंचलिक उपन्यासों की परम्परा का नितान्त स्वाभाविक तथा अत्यन्त भव्य रूप देखने को मिलता है।

इस उपन्यास के साल-सवा साल के कथा-काल में ग्राम्य-जीवन की सरलता, निश्छलता, अन्ध-विश्वास और बात पर मर मिटने की वृत्ति पग-पग पर प्रकट होती है। भाषा ठेठ ग्रामीण है, जिसमें लेखक ने अनेक बहुमूल्य अनुभव सूक्तियों के रूप में पिरो दिए हैं। लेखक का कथा-शिल्प अद्वितीय है। मेले से ही उपन्यास का आरम्भ होता है और मेले से ही अन्त। उपन्यास का वातावरण खेत, खलिहान, मचान और कुए को लेकर चलता है और लोक-गीतों ने उसे और भी मादक बना दिया है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के साथ आदर्शवाद का ऐसा अपूर्व संगम इस उपन्यास में हुआ है कि अच्छे-अच्छे मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास-लेखक आश्चर्य-चकित होकर रह जायँ। कथा की गति बड़ी ही स्वाभाविक है और एक भी वाक्य या शब्द व्यर्थ नहीं है। सारा उपन्यास साँचे में ढला हुआ-सा लगता है। उपन्यास-लेखक ने भारतीय ग्राम्य-जीवन की झलक देने में अद्भुत संयम और प्रशंसनीय कौशल से काम लिया है। कदाचित् इसीलिए यह भारतीय आंचलिक उपन्यासों में अपने ढंग की श्रेष्ठतम रचना है।

इस उपन्यास का अनुवाद करने में मुझे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। जनपदीय शब्दावली और मुहावरों के अतिरिक्त मेलों-

तमाशों और उत्सव-त्यौहारों-सम्बन्धी विशेषताओं तथा पात्रों की विशिष्ट भाव-प्रकाशन-प्रणाली को ज्यों-का-त्यों उतारने के अभिप्राय से तीन बार इसका पुनर्लेखन हुआ है। इसके वातावरण को भी ज्यों-का-त्यों रखने के लिए मैंने यत्र-तत्र जनपदीय शब्दों को स्पष्ट करने की दृष्टि से टिप्पणियाँ भी दे दी हैं। कविताओं का अनुवाद कविताओं में ही करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही गुजराती के प्रसिद्ध विद्वानों के साथ मूल कृति और अनुवाद को शब्दशः मिलाकर भी देखा गया है। जिन विद्वानों ने मुझे इस कार्य में सहायता दी है, उनमें सर्वश्री नटवर व्यास (प्राध्यापक गुजराती भाषा, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा), रमणलाल पाठक (गुजराती विभागाध्यक्ष, सोवियत दूतावास का सूचना कार्यालय, दिल्ली) और विष्णुकुमार पण्ड्या (ब्रिटिश इनफ़र्मेशन सर्विस दिल्ली) प्रमुख हैं। इनमें अन्तिम दो तो उसी प्रदेश के निवासी हैं, जिसकी भाषा का प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वयं उपन्यास-लेखक श्री पन्नालाल पटेल ने कृपापूर्वक मेरे घर पधारकर अनेक शंकाओं का निराकरण किया है और अनुवाद को देखकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की है। मैं उपन्यास-लेखक और गुजराती के पूर्वोक्त विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर मेरी सहायता की। अनुवाद कैसा है, यह तो विद्वान् निर्णय करेंगे, पर मुझे सन्तोष है कि मैंने इसे सुन्दर और प्रामाणिक बनाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी है।

आगरा कॉलेज, आगरा।
१ जुलाई १९५७

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

क्रम

१.	प्रथम भेंट	१
२.	अदृश्य प्रभाव	१५
३.	मोह-पाश में	२४
४.	माया की भँवर में	३१
५.	मन्थन	४२
६.	दूसरे को सौंप दिया	५३
७.	हृदय का हुडा	७७
८.	लाने की लाज रखना	९०
९.	वियोग की वेदना	१०४
१०.	व्यर्थ प्रयास	११३
११.	किस सम्बन्ध से	१२२
१२.	स्पष्ट बात	१२८
१३.	परीक्षा	१३४
१४.	भले ही चला जाय	१५१
१५.	लाज भी रखी	१६२
१६.	विदा	१८६
१७.	व्यर्थ प्रतीक्षा	१९७
१८.	जीते जी जहर पीना	२१०
१९.	अधूरा गीत	२२६
२०.	आया क्यों था ?	२३९
२१.	मिला भी नहीं	२५७
२२.	एक प्राण, दो शरीर	२६२

माथानी तूँबड़ी मां लाख लाख मोती
'ल्या हैयानी कोथळी ठाली
अभागिया हैयानी चेंथरी खाली ।

(माथे की तूँबड़ी में लाख-लाख मोती
रे हिया की कोथरी खाली
अभागे हिया की चींधरी खाली) ।

पहला प्रकरण

●

प्रथम भेंट

काबरिया पहाड़ की तराई में जन्माष्टमी का मेला लगा था। भगवान् के स्नान के लिए ताज़ा पानी लेकर आने वाली वर्षा दोपहर होते-होते थम गई थी। चलते हुए पर्वतों-जैसे बादल पूर्व की ओर जा रहे थे। सूर्य भी धरती पर झाँकने लगा था।

विशेष रूप से युवक-युवतियों से उमड़ती हुई तराई महीनों के मौन के बाद आज कभी गाती सुनाई देती थी, तो कभी ऐसी लगती थी जैसे अलगोझे बजा रही हो। पहाड़ की दीवार में बने शिवजी के पुराने मन्दिर का घण्टा तो बजता ही रहता था। कभी-कभी व्यापारियों की आवाज़ इस कोलाहल के ऊपर तैर आती थी।

एक तो जवानी वैसे ही अल्हड़ होती है और उसमें भी वह आई थी मेले में। किनारों को डुबाती नदी की बाढ़ की भाँति यह जवानी आज अपने उभार पर थी। कोई चूड़ियाँ खरीद रही थी तो कोई कपड़े की मोतीजड़ी तनी[1] ले रही थी। युवक भी गोटे वाले फुँदने खरीदकर अपने अलगोझों की जोड़ी को सजा रहे थे। कोई नारियल ले रहा था तो कोई सूखी गिरी

१. अँगरखे या बंडी को बांधने की डोरी; जो बटन के स्थान पर काम देती है।

से ही अपना मन बहला रहा था। और इस काम से निबटे हुए लोग आमने-सामने खड़े काबरिया पहाड़ों पर पाण्डवों की चौरी और कलशेरी माता के दर्शनों को जाने लगे थे। दोनों पहाड़ों के बीच आदमियों का झूलता हुआ पुल सा बन गया था।

शिवजी के ठीक सामने दूसरे पहाड़ की दीवार में गड़े चर्ख (झूले) के पास जैसे-जैसे दिन ढलता जाता था वैसे-ही-वैसे आखिरी मज़ा लेने के इरादे से युवक-युवतियों की भीड़ बढ़ती जाती थी।

पश्चिम की ओर से आते गीतों और गम्भीर स्वर वाले अलगोझों ने कितने ही लोगों का ध्यान खींचा। बहुतों ने कहा—"अरे, यह तो ऐसा लग रहा है जैसे धरती ही फट जायगी।" कुछ हँसते हुए बोले—"मेला तो उठने लगा, फिर ये व्यर्थ क्यों चले आ रहे हैं?" एक ने जवाब दिया—"कहीं दूर के लगते हैं।" तो दूसरा बोल उठा—"लेकिन जब इन्हें उलटे पैरों ही पीछे लौटना था तो आने की ही क्या पड़ी थी?"

लेकिन चार युवतियों और पाँच युवकों वाली उस टोली की तो धज ही कुछ निराली थी। क्षण-भर में ही खरीद भी कर ली और दोनों पहाड़ों का चक्कर लगाने का विचार छोड़कर आ खड़ी हुई चर्ख के पास। गुप-चुप झूले में बैठने की सलाह भी कर ली। उनमें से चार ऐसे थे जिनको चर्ख में बैठने से चक्कर आते थे, इसलिए बाकी के पाँच जनों—तीन युवकों और दो युवतियों—ने झूले में बैठने की तैयारी की।

टोली में सहज ही अग्रस्थान प्राप्त करने वाले युवक ने दस सेर के लगभग वज़न की मोमी कपड़े की छतरी एक लड़की को देते हुए कहा—"ले काली, इस छतरी को ज़रा सँभालना।" और बोला—"चर्ख के रुकते ही पालने में कूद पड़ना, नहीं तो रह जाओगे टापते।" और अपनी ओर ताकती युवतियों से कहा—"तुम समझती होगी कि काना भाई बिठा देगा और हम बैठ जायँगी, सो आज यह नहीं होने का।" फिर साथी युवक को लक्ष्य करके बोला—"क्यों हीरा?"

"बिलकुल ठीक है। अगर बिठाने में रहे तो क्या इस भीड़ में दिन

छिपने तक भी नम्बर आ सकता है ?"

"तभी तो मैंने कहा था कि लड़कियो, एक तो देर हो गई है और दूसरे हमारी होड़ मत करो, लेकिन फिर भी नहीं मानीं; तो लो चखो मेले का मज़ा।" कहकर कानजी हँसने लगा।

कानजी की उम्र पच्चीस के लगभग होगी। उसकी काठी भी ऐसी थी कि उसे पाँच हाथ का तगड़ा जवान कहा जा सकता था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में जितनी हास्य की झलक थी उतनी ही लापरवाही भी दिखाई देती थी। पैरों में ढाई सेर वज़न का नालदार और फुँदने वाला जोड़ा था। घुटनों तक की धोती, रंगीन कमीज़, उस पर सफेद कोट और सिर पर गुलाबी गोटे वाला लाल साफा था। साफे की बँधाई तो कुछ निराली ही थी। उसमें भी कलगी निकालना तो जैसे उसे ही आता था। फिर पीछे लटकते लम्बे छोर को कोट में लपेटकर तो उसने कुछ और ही समाँ बाँध रखा था। नये गोटे से सुशोभित अलगोझे की जोड़ी कोट की जेब में खुँसी हुई थी। अलगोझे पर हुई खुदाई के ढंग से अलगोझों के प्रति उसकी रुचि प्रकट होती थी। कुछ युवक तो उन अलगोझों को टुकुर-टुकुर देख रहे थे। दो-चार जनों के मन में तो 'भाई ज़रा बजाकर तो देखो! सुनें तो सही कि कैसे बोलते हैं' ऐसा कहने की इच्छा भी जगी। इतने में ही चर्ख रुका। कानजी ने उन दो युवतियों को बाँह पकड़कर उठाया और पहले पालने में बिठा दिया। हीरा की ओर देखकर बोला—"अब कोई परवाह नहीं। तुम अपने को देखना हीरा!"

परन्तु ऐसा कहने पर भी उसने नरम स्वभाव के मनारे को पहले मौका दिया। नीचे आते हुए पालने पर नज़र रखते हुए बोला—"हीरा, आखिरी पालना है, समझा!" और बाँहें चढ़ाकर खड़ा हो गया। पालने में बैठी दो युवतियों में से जैसे ही एक खड़ी हुई कि वह झट "हीरा बैठ, नहीं तो रह जायगा" कहता हुआ चढ़ गया। उस स्त्री के नीचे उतरने से पहले ही वह अन्दर जाकर जम भी गया। लेकिन देखता क्या है कि आधी खड़ी हुई दूसरी युवती "अरी मणी, एक

चक्कर और लगा, उतरी क्यों पड़ती है ?" कहती हुई अन्दर ही रह गई। बड़े जोर से पालने के डण्डे को पकड़कर खड़ा हुआ हीरा मुँह फाड़े रह गया। उतर पड़ने वाली मणी आँखों से कुछ, और मुँह से कुछ और ही कहती हुई 'अब क्या है ? पहले कहना था न, बैठ अब तू ही अकेली !' यों बड़बड़ा रही थी। उधर चर्ख वाले ने "पैसा निकालो, चलो जल्दी करो !" कहते हुए हाथ फैलाया। पालने में बैठी युवती "हाय, हाय, मेरे पास तो···अरी पैसा तो दे" इतना ही कह पाई थी कि कानजी ने चर्ख वाले के हाथ में दो पैसे रख दिए। एक सपाटे में पालना ऊपर पहुँचा। हीरा और मणी नीचे खड़े-खड़े कानजी वाले पालने पर टकटकी लगाये थे। चर्ख धीरे-धीरे तेज हुआ।

कानजी के पास बैठी युवती ने कहा—"मैं नीचे उतरते ही तुम्हें पैसे दे दूँगी, अच्छा !"

कानजी ने चाहा कि कह दे—'जब रुपया देने पर भी चर्ख में साथ बैठने वाला नहीं मिलता, तो फिर पैसे की क्या बिसात है ?' लेकिन यह सब-कुछ न कहकर उसने इतना ही कहा—"पैसा क्या तुमसे कहीं बढ़कर है ?"

चर्ख पूरी तेज़ी से घूमने लगा। पालनों में बैठी कुछ युवतियाँ गा रही थीं तो कुछ युवक अलगोझे बजा रहे थे। नीचे खड़ी मणी 'अरी जीवी' कहकर चिल्ला रही थी, परन्तु जीवी का जी इस समय किसी दूसरे ही लोक में था। कानजी की आँखों से टकराती पहली नज़र तो उसने बचा ली, पर दूसरी बार वह स्वयं ही कानजी की ओर देखने लगी और मन्द-मन्द मुस्कान के साथ बोली—"ये अलगोझे दिखाने को खोंस रखे हैं या बजाने को ?"

"पहले दिखाने को और फिर बजाने को।" कहते हुए कानजी ने अलगोझे मुँह से लगाये। मँजे हुए गाने की दो पंक्तियाँ निकालीं :

"फागुन की वायु में आया हुआ यौवन
वैशाख की वायु में उड़ जाता है।"

और इसके बाद अलगोझे बन्द करके जीवी की ओर देखता हुआ कानजी बोल पड़ा—"कुछ समझी कि नहीं ?"

जीवी समझी या नहीं यह तो वह जाने, पर उसने कानजी को तिरछी नज़र से अवश्य देखा। उन आँखों में क्या था, इसे तो कानजी न समझ सका, पर उसने यह अवश्य अनुभव किया कि मिलती हुई नज़र ने उसके हृदय से कुछ उठा लिया है और बदले में कुछ रख दिया है। दोनों ने एक-दूसरे को फिर देखा और इसके बाद चारों ही आँखें नीचे झुक गईं। अब तो जैसे होठ भी सिल गए थे। हृदय की गति बदल चुकी थी। पूरी तेजी से घूमता हुआ चर्ख धीमा पड़ा। जीवी के बाद कानजी नीचे उतरा, पर अपने नीचे उतरने का भान तो उसे तब हुआ जब ऊपर बैठे हुए हीरा ने यों कहा कि "क्यों कानजी ? अभी से ?" लेकिन अब क्या हो सकता था ? जगह तो भर चुकी थी। जगह होती तो भी कदाचित् वह अब न बैठता। स्वर्ग में हो आने का उसे जितना हर्ष था, उतना ही उस स्वर्ग से अलग होने का शोक भी था।

बुद्ध -से खड़े कानजी के कानों में फिर वही मधुर आवाज पड़ी—"लो अपना पैसा !" कहती हुई जीवी हाथ बढ़ाये खड़ी थी। कानजी ने झिड़कती हुई नज़रों से जीवी को देखा। हँसकर बोला—"रहने दो, यही समझना कि एक बार मेरी ओर से ही बैठी थीं।"

जीवी ने कुछ हुज्जत न करके हाथ पीछे खींच लिया। लेकिन पास खड़ी मणी से बोले बिना न रहा गया—"यों बिना जान-पहचान के किसी का पैसा रखा जाता होगा ?" यों कहकर मुस्कराती हुई वह कानजी की ओर देखने लगी।

"जान-पहचान न होती तो इनके पैसे देने के लिए मेरा हाथ ही क्यों बढ़ता ?" कहकर हँसते हुए कानजी ने जीवी की ओर आँख मारी और उसके सुहाग-रहित हाथों की ओर देखने लगा।

"अरी रहने दे। नहीं लेता, तो चल !" कहकर मणी ने जीवी को आगे किया। चलते-चलते बोली—"इतने की गिरी लेकर खाना और

क्या···"

"चल, चुप रह !" कहती हुई जीवी पीछे मुड़ी और फिर कानजी को देखा।

आँखों से ओझल होने तक कानजी जीवी की ओर ही देखता रहा।

पास खड़ी हुई काली और दूसरी युवती कभी एक-दूसरे को देखकर और कभी कानजी को देखकर मुस्करा रही थीं। मानो कह रही हों—'न जाने इसमें क्या लाल लगे हैं जो कानजी भाई टुकुर-टुकुर देख रहा है।'

चर्ख से उतरकर हीरा कानजी के पास आया और बोला—"अब यदि पहाड़ के दर्शन करने हों तो आओ, फिर चलेंगे।" और ईशान कोण की ओर दृष्टि डालकर कहने लगा—"मुझे तो लगता है कि वर्षा रास्ते में ही आ घेरेगी।"

"बिना इसके मेले का पूरा मज़ा भी कैसे आयगा।" कहकर कानजी ने उन युवतियों के झुण्ड की ओर देखा और आगे बढ़ा।

दोनों पहाड़ों का चक्कर लगाकर नीचे आते-आते सूरज भी पूरी तरह छिप गया। उखड़ते हुए मेले का शोर भी बढ़ गया था।

"आओ, एक आखिरी चक्कर लगा लें !" कहकर कानजी बाजार में घूमने निकल पड़ा। गाड़ी में जुते बैलों की भाँति सदा कानजी के साथ रहने वाला हीरा भी न जाने कैसे कभी-कभी पीछे रह जाता था। एक बार तो कानजी को पकड़ना भी कठिन हो गया। कानजी को इधर-उधर भटकता देखकर हीरा ने कह भी दिया—"हम तो पीछे रह गए हैं। तू यों आगे क्या ढूँढ रहा है ?"

कानजी ने हँसकर सिर्फ इतना कहा—"मैंने समझा था कि तुम आगे निकल गए होगे ?"

तराई के दोनों छोरों पर मानवों का प्रवाह फिर आरम्भ हो गया था, परन्तु इस समय न तो अलगोझों की स्वर-लहरी थी और न गीतों की रिमझिम।

कानजी की टोली भी चलने लगी। मेले की सीमा छोड़ने की तैयारी थी कि कानजी यकायक रुक गया। "अरे, यह तो मैं भूल ही गया कि भाभी ने रतनी के लिए चूड़ियाँ मँगाई थीं। तुम लोग चलो, मैं यह आया।" कहता हुआ वह पीछे लौटा। हीरा तो उसे देखता ही रह गया। लगा, जैसे कानजी आज पहली बार उसे छोड़े जा रहा हो। उसके पीछे-पीछे जाने का विचार भी उठा, लेकिन उसे डर था कि यदि इस सारी जमात—विशेषकर स्त्रियों—को छोड़कर गया तो कानजी खा जायगा। कुछ खीझते हुए उसने कानजी से चिल्लाकर कहा—"देखो, जल्दी लौटना, हम उस झरने पर बैठेंगे।" और बड़बड़ाया—'भाभी ही सब-कुछ हैं न! दो आने दिये हैं, उसमें से भी छोरी के लिए चूड़ियाँ ले आना।'

दूसरा बोला—"इस घर में तो काना भाई ही रह सकता है। मेरे-जैसे से तो एक क्षण भी न रहा जाय।"

हीरा बोला—"क्या करें भाई! समझदार को तो सभी-कुछ सहना पड़ता है, नहीं तो क्या उसका बड़ा भाई यह नहीं जानता कि वह भी आधे हिस्से का मालिक है। परन्तु वह बेचारा जानता है कि अगर कुछ ऊँच-नीच कहूँगा तो औरत तो चल देगी पीहर को और फिर पीसना-कूटना, झाड़ना-बुहारना यह सब करना होगा उसे।"

"लेकिन यह सब तभी तक है जब तक कि काना भाई सहन करता है, बिगड़ता नहीं। अगर वह बिगड़ जाय तो भाई-भौजाई सबको लेने-के-देने पड़ जायँ।" काली ने कहा।

हीरा बोला—"लेकिन कानजी ऐसा करे तब न?"

और इसके बाद कानजी के भाई-भौजाई उसके विवाह या धरेजे के लिए तनिक भी प्रयत्न नहीं करते। यह तो शुरूआत है, आगे चलकर हिस्सा भी नहीं देंगे आदि नाना प्रकार के अनुमान लगाते-लगाते वे कानजी की प्रतीक्षा करने के लिए पहले झरने पर बैठ गए।

ईशान कोण से उठते काले बादल आकाश के मध्य भाग तक आ

गए थे। इन बादलों से ढक जाने के डर से जल्दी-जल्दी चलता हुआ सूर्य भी पूरी तरह ढल चुका था।

हीरा ने कहा—"आठ कोस की गैल काटनी है और कानजी का अभी पता तक नहीं।"

"हमारे पास छतरियाँ हैं, इसलिए कुछ कठिनाई नहीं; पर असली मजा तो इन चार जनों को आयगा।" मनारे ने कहा।

"उनकी वे जानें, तू अपनी छतरी मत तानना! हमारे लिए तो काना भाई की यह एक ही छतरी बहुत है।" कहकर काली ने मनारे के पास वाली कानजी की छतरी दिखाई।

"तुम्हें दे देगा तो वह क्या करेगा?" मनारे ने कहा।

कतराती आँखों से देखती हुई काली बोली—"लेकिन इसकी तुझे क्या फिकर है। तू अपनी छतरी के नीचे मौज से बच जाना! कोई कुत्ता भी उसके नीचे न आयगा।"

और मनारे के कुछ जवाब देने से पहले ही हीरा ने कहा—"लो चलो, उठो! आ रहा है—वह—हाँ, हाँ कानजी ही है। चलो, वह आ पहुँचेगा।"

खेत-भर चले होंगे कि कानजी आ पहुँचा। उसी सपाटे से आगे बढ़ता हुआ वह बोला—"चलो ज़रा तेज़ी से।"

"अरे काना भाई! ज़रा चूड़ियाँ तो दिखाओ! कितनी लाये हो?" काली ने पूछा।

"आगे दिखाऊँगा। इस वक्त तो ज़रा पैर बढ़ाओ!"

लेकिन जब हीरा भी उसकी इस चाल को न पा सका तो कहने लगा —"पर इतनी ज्यादा जल्दी क्या है? रात है तो हम भी हैं। कोई अधबीच पेड़ पर तो रहना नहीं है।"

पीछे घिसटती हुई युवतियों में से भी एक बोली—"इतनी जल्दी तो कानजी भाई ने आती बार भी नहीं की थी।"

"भले मानस को कोई एक व्याधा थोड़े ही है।" काली ने व्यंग में

ही कहा; पर ऐसा न था कि कोई समझ सके।

कानजी कुछ धीमा तो पड़ा; पर उसकी नज़र उतनी ही तेजी से आगे दौड़ रही थी। कहना नहीं चाहिए था, फिर भी कह डाला—"कुछ दूर तक तेजी से चलो, फिर धीरे-धीरे चलेंगे।"

हीरा को भी इसमें कुछ रहस्य जान पड़ा। बोला—"हाँ, हाँ ठीक है। जब तक दिन है तब तक ज़रा जल्दी पैर बढ़ायें तो अच्छा है।" कहकर वह कानजी से भी ज्यादा तेज चलने लगा।

यह सारा रास्ता मनुष्यों से सजीव था। कोई टोली तेजी से चल रही थी तो कोई चहलकदमी और मौज-मजा करती जा रही थी। कुछ विश्राम लेने बैठी थीं और कुछ अपनी खरीद-फरोख्त तथा घूमने-फिरने आदि के बारे में कह-सुन रही थीं।

इन सबकी ओर देखते हुए कानजी की नज़र दूर जाती दो बालाओं पर पड़ी। मन में कहा—'वे ही हैं। उनके बिना और कोई इस प्रकार पीछे मुड़कर देख ही नहीं सकता।' जाने-अजाने उसकी अधीरता बढ़ गई। इतनी उम्र में कानजी कुछ युवतियों के परिचय में आया होगा, कुछ के प्रति अनुराग भी हुआ होगा परन्तु आज की भाँति सुध-बुध भुला देने वाली बात तो कभी हुई ही न थी।

परस्पर अठखेलियाँ करती जाने वाली उन दोनों बालाओं के पास आते ही उसकी चाल धीमी पड़ गई। पीछे घिसटते आते मनारे ने तो पूछ भी लिया—"धीमे क्यों पड़ गए कानजी!"

कानजी से पहले हीरा बोल उठा—"वे जो पीछे आ रही हैं, उन्हीं-के लिए तो।" और ज़ोर से पुकारा—"छोरियो, ज़रा पैर बढ़ाओ! यों जनवासे की चाल चलने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा।"

इतने में कानजी ने तिरछी नज़रों से जीवी को देख लिया।

धीरे से, पर ऐसे कि सुना जा सके। मणी बोली—"आदमी का साथ ही बुरा! भला हो तो अधबीच में ही छोड़कर चल दे!"

"क्यों, तुम्हारे साथ ऐसा कुछ हुआ है क्या?" आगे बढ़ते हीरा

ने कुछ धीमे पड़ते हुए पूछा।

"ऐसा हुआ है तभी तो। देखो न, हमारा क्या कोई साथ देने वाला है?" कहकर मणी ने जीवी की ओर देखा। मानो पूछ रही हो—'क्यों ठीक है न?'

"ओ हो! तो ऐसी दुखी क्यों होती हो। आओ हम साथ दें!" कहकर कानजी जीवी की ओर देखकर बोला—"लेकिन बाद में हमें अधबीच में न छोड़ना कबूल हो तो!"

मणी को जरा धकेलते हुए जीवी बोली—"ले चल, चलना हो तो। राह चलते का क्या साथ?"

कानजी से इसका जवाब दिये बिना न रहा गया। बोला—"एक बार कर देखो साथ, उसके बाद अधबीच में छोड़ें तो कहना! क्यों हीरा?"

हीरा ने हाँ-में-हाँ मिलाई—"लेकिन यह तो मैं कह ही रहा हूँ। चलो, साथ देना हो तो पैर बढ़ाओ!"

मणी बोल पड़ी—"पैर तो बढ़ावें, पर घर भी पूछ लिया है।"

"घर कोई हो तो पूछें।" कानजी ने भी कह डाला।

"जाओ-जाओ, चुपचाप। न जाने कितनों को ऐसे बहकाते फिरते होगे।" कहकर नखरे के साथ मणी आगे बढ़ी।

"क्या अपने मन में यह सोचकर चल दीं कि घर जाकर कहीं पानी न पिलाना पड़े? लेकिन भई ऐसे जबरदस्ती पानी पीने के लिए यहाँ कौन फालतू बैठा है? तुम तो अपने घर की छत के नीचे घुस जाओगी और हमें अभी सात कोस और जाना है।" कानजी ने कहा।

"कौन-सा गाँव है?" जीवी ने पूछा।

"ऊधड़िया। कभी देखा है?" हीरा ने पूछा।

"ऊधड़िया के हो, इसीसे ऊधड़िया (ठेके पर काम करने वाले)-जैसे लगते हो।" मणी बोली।

"लेकिन क्या तुम्हें इसकी भी खबर है कि रोज़नदारी[1] पर काम

१. नित्य मजदूरी देकर काम कराना।

कराने में चाँद गंजी हो जाती है। चलो ठेके पर काम करने वाले बनाकर तुम दोनों को चैन तो मिला।" कानजी ने पहला वाक्य तो मणी से कहा; पर अन्तिम वाक्य कहते समय वह जीवी की ओर ही देख रहा था।

लेकिन ये इधर-उधर की बातें बहुत देर तक न चलीं। रास्ते में ही जीवी का गाँव आ गया। मणी ने तो, 'फिर आना, कभी मिलें तो याद करना।' कहकर विदा दे दी; पर जीवी से कहे बिना न रहा गया—"चलो न गाँव में, कुछ फलाहार न करो तो भले ही न करना; पर पानी तो पी लेना!"

"पानी का क्या आज कहीं टोटा है?" कहकर कानजी हँसा तो, पर बिलकुल नीरस हँसी।

"तो तमाखू पीना।" और कानजी को कुछ इधर-उधर होते देखकर बोली—"देर नहीं लगेगी, किनारे पर ही घर है।"

"अच्छी बात है।" कहकर कानजी ने मनारे से कहा—"तुम लोग चलो मनारे! हम खड़े-खड़े चिलम पीकर आते हैं।"

"जल्दी लौटना; बहुत चिलम पीने वाले हो गए हो।" काली ने मुँह बनाकर कहा। और कानजी को कतराती आँखों से देखने लगी।

"हम यह आए।" कहकर कानजी चला। उधर मणी और जीवी में कुछ खींचा-तानी हो रही थी। मणी का कहना था कि ये लोग मेरी जात के हैं इसलिए इनको मेरे यहाँ आना चाहिए जबकि जीवी अपने यहाँ ले जाने का आग्रह कर रही थी। अन्त में जीत जीवी की ही हुई।

गाँव के छोर पर ही जीवी का घर था। जिसमें घुसने पर सिर टकरावे ऐसे पक्खे वाले ओसारे में खाट पर बैठा हुआ जीवी का बाप हुक्का पी रहा था। अलाव में जलते एक मोटे लक्कड़ से धुआँ निकल रहा था।

अलग होते वक्त जीवी ने मणी से कुछ कहा; और 'देख झठ आना' कहकर ओसारे की ओर मुड़ी। दीवार से खड़ी हुई खाट को बिछाते हुए कहा—"बैठो!"

"कौन है भाई! आओ!" कहकर बूढ़े ने भौंहें सिकोड़कर देखने-

पहचानने का व्यर्थ प्रयत्न किया।

"बापा, यह तो ऊधड़िया के पटेल हैं। मेले से घर जा रहे थे सो मैं यहाँ तमाखू पीने बुला लाई हूँ।"

"बुलाना ही चाहिए बेटा! घर लेकर बैठे हों और तमाखू से भी जायँ तो मनुश जनम ही किस काम का?" कहते हुए बूढ़े ने तमाखू रखी।

"रहने दो। हमारे पास है!" चिलम में तमाखू रखते हुए हीरा ने कहा।

कानजी ने धीमे से हीरा से कहा—"तो उसीका रहने दे!"

"ठीक है, तुम्हारे पास तो होगा ही, पर यहाँ हमारे घर आकर यों मना नहीं करना चाहिए भाई!"

इसके बाद बूढ़े ने बातें शुरू कीं। ऊधड़िया में घर कहाँ है, किसके लड़के हो आदि के बारे में पूछता हुआ बोला—"जब तक तुम्हारे गाँव में भगा खबास जीवित थे तब तक तो मैं अक्सर जाया करता था, पर जब से वे मर गए तब से आना-जाना कम हो गया भाई! वह छोकरा है पर भगा खबास तो भगा खबास ही थे भाई!"

बातों का हूँकरा भरते हुए कानजी की आँखें और कान पीछे की ओर ही लगे थे। जीवी को पतीली माँजते देखा और वह समझ गया। हीरा को इशारा करते हुए खड़ा हो गया। बोला—"अच्छा तुम बैठो, अब हम चलते हैं।"

"इस वक्त? कब पहुँचोगे भाई! आज तो रुको! दो घड़ी बातें ही करेंगे। जल्दी हो तो सवेरे तड़के चले जाना।"

"नहीं-नहीं, हमारे संगी-साथी जा रहे हैं। फिर साथ में औरतें भी हैं इसलिए···"

"लेकिन मैं यह चाय बना रही हूँ सो?" पतीली लेकर आती हुई जीवी बोल उठी।

"ठीक तो है, आठें का वर्त (व्रत) होगा। आये हो तो अब चाय

पीकर ही जाना। बिरादरी वाले तो कभी-कभी आते ही हैं, पर तुम हमारे घर काहे को आओगे!"

"लेकिन इस कुसमय में दूध कहाँ मिलेगा। बेकार झंझट मोल लिये बिना···"

कानजी के बीच में ही जीवी बोल उठी—"यह सब तुम्हें देखना है कि हमें? बैठो, ज्यादा देर नहीं लगेगी।"

"कानजी को बैठना ही पड़ा।"

जीवी ने बाहर के अलाव में ही चूल्हा बना दिया। लकड़ी लाकर आग जलाई। इसी बीच दो लोटे लिये हुए मणी भी आ पहुँची। एक में पानी था, दूसरे में दूध। ज़रा-सी देर में चाय तैयार हो गई।

लेकिन इस चाय को कानजी के गले उतरते कुछ देर लगी। घर में से किसी औरत की धीमी आवाज़ के साथ आती काँय-काँय उसके तेज़ कानों से छिपी न रह सकी।

चाय पीकर बूढ़े को राम-राम करते हुए दोनों जने उठे। मणी और जीवी आँगन तक विदा करने गई। अलग होते हुए कानजी ने जीवी की आँखों से आँखें मिला दीं। चलने से पहले मणी की ओर देखकर धीमे से कहा—"दोनों ने मिलकर चाय तो पिला दी है लेकिन यह न भूल जाना कि अगर कभी मौका पड़ा तो बदले में चाय पीनी पड़ेगी।"

"देखना कहीं ऐसा न हो कि खुद ही भूल जाओ!" जीवी ने कह डाला।

"अच्छा देखेंगे।" कहकर कानजी चला।

इसके बाद मणी भी, 'अच्छा चल, पानी लाना हो तो। मैं जेहर[1] लेकर आती हूँ।' कहकर चली गई। जीवी अभी तक कानजी की ओर

१. पीतल या मिट्टी का एक बड़ा और दूसरा छोटा बरतन मिलकर 'जेहर' कहे जाते हैं। नीचे वाला बड़ा बरतन यदि पीतल का हो तो 'तम्हेड़ी', और मिट्टी का हो तो 'घड़ा' या 'चपटा' तथा ऊपर वाला 'कलसा' या 'कलसिया' कहा जाता है।

टुकुर-टुकुर देखती खड़ी थी। सीधे रास्ते न जाकर खेतों के बीच से जाते कानजी के साफ़े का छोर जब तक उसे दिखाई देता रहा तब तक वह खड़ी रही। लेकिन जब वह आँखों से ओझल हो गया तब उसे अपने इस अशोभनीय आचरण का भान हुआ। एक लम्बी साँस लेकर वह ओसारे में आई। खेतों की ओर फिर एक नजर डाली और निःश्वास के साथ घर में अन्दर चली गई।

दूसरा प्रकरण

●

अदृश्य प्रभाव

जीवी से अलग होकर कानजी तथा हीरा ने चौमासे के कारण बने चक्करदार लम्बे मार्ग को छोड़कर सीधा रास्ता पकड़ा। कानजी आगे भले ही हो, पर रास्ता हीरा ही दिखा रहा था। इसके अतिरिक्त दोनों जने चुप थे।

अस्त होते हुए सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ रहा था। आकाश भी बादलों से घिरा जा रहा था। सुदूर क्षितिज में ज़ोर की गड़गड़ाहट शुरू हो गई थी। परन्तु ऊँट की चाल से चलते हुए इन दो जनों को जैसे इसकी कुछ खबर ही न हो। होगी भी तो उसकी चिन्ता तो जैसे कुछ थी ही नहीं।

रास्ते पर चलते हुए हीरा ने कहा—"है तो नाई की लड़की, पर देखा कितनी समझदार है!"

"जात से किसी की कीमत थोड़े ही होती है हीरा! मनिख (मानुष) की कीमत तो उसकी आँखों से आँकी जाती है।"

"बेशक, नहीं तो वह मणी अपनी जात की ही थी न?"

हीरा के इस कथन को भी कानजी ठीक नहीं समझता था। उसे लगता था कि इस विषय में मणी को दोष देने की अपेक्षा उसकी प्रशंसा

करना ही अधिक उपयुक्त था। परन्तु इस सब झंझट में न पड़कर वह 'हाँ' कहकर ही चुप हो गया।

जाति-सभा अथवा मेले में जाने पर ऐसी कितनी ही जान-पहचान होती थीं और उन जान-पहचानों का चर्खा 'क्या नखरे करती है, मौका पड़ा तो दिखा देता', आदि के रूप में काफ़ी देर तक चलता था। लेकिन न जाने क्यों, आज न तो कानजी ही कुछ बोलता था और न हीरा की ही हिम्मत पड़ती थी।

दूसरी ओर हीरा को यह मौन भी सालता था। कहा—"यों गुम-सुम चलने से तो अलगोझे ही बजाओ तो कुछ रास्ता कटे!"

"अरे परेशान क्यों होता है, ले बजा न!" कहकर कानजी ने अलगोझे हीरा के आगे कर दिए।

"यदि मैं चलते-चलते बजा सकता होता तो फिर परेशानी की बात ही क्या थी! तू ही बजा न, वे लोग सुनेंगे तो उनका जी भी कुछ चैन पायगा।"

कानजी अचानक चौंक पड़ा। पूछा—"कौन लोग?"

"कौन क्या? वे ही अपने गाँव वाले। अभी बहुत दूर नहीं गये होंगे।" हीरा ने कहा। कानजी ने एक लम्बी साँस ली।

आते समय रास्ते-भर अलगोझे बजाते आने वाले कानजी को इस समय एक फूँक मारने में भी जैसे थकान अनुभव होती थी। कहा—"मरने दे अब! बजाकर यहाँ किसको सुनाना है?"

"तो इतने दिन किसको सुनाने के लिए बजाता था? जाते समय तो एक क्षण के लिए भी मुँह से नहीं हटाये थे।"

"लेकिन यह तो मानी हुई बात है कि जितनी उमंग से मेले में जाते हैं उतनी उमंग से कोई वापस थोड़े ही लौटते हैं।"

"ऐसी कोई बात नहीं"—और हीरा ने कह ही तो डाला—"आज तुझे कुछ हो गया है, नहीं तो हर बार तू खूब उमंग से ही लौटता था।"

"होगा भाई! जो तुझे लगे सो ठीक!" कहकर कानजी हँसा।

यद्यपि हीरा इस बात को यों ही छोड़ने वाला न था तथापि इतने में ही उसके कान में—"वे आये, लो उठो!" की आवाज़ जो आई तो वह चुप हो गया।

सूर्यास्त हो चुका था। बादल भी आकाश को चारों ओर से घेरकर ऐसे झुक रहे थे जैसे बरसने का विचार कर रहे हों। हवा का एक झोंका आया और दूसरे झोंके के साथ तो वर्षा भी होने लगी। युवतियाँ युवकों की छतरियों के नीचे चली गईं। इस प्रकार आधे भीगते हुए और बिजली की चमक से रास्ते का निश्चय करते हुए वे चाय पीने के लिए पीछे रहे कानजी और हीरा को रास्ते-भर बनाते हुए बड़ी रात गये गाँव में आकर लगे। अब वर्षा भी बन्द हो गई थी।

ऊधड़िया गाँव एक बड़े टीले पर बसा हुआ था। गाँव में अधिकांश पटेलों की बस्ती थी। प्रत्येक पंक्ति में आठ से लेकर दस तक घर थे। यों तीन थोक मिलाकर चालीसेक घर थे। गाँव के इर्द-गिर्द बिखरे बीसेक छप्पर ठाकुराओं[1] के थे। गाँव में एक बनिये की दुकान थी। नज़दीक के एक गाँव के ब्राह्मण का घर भी वहाँ था। इसके अलावा नाई, दर्जी, बढ़ई और लुहार का भी एक-एक घर था। इस प्रकार ऊधड़िया आस-पास के गाँवों की अपेक्षा बड़ा गाँव समझा जाता था।

गाँव का चढ़ाव शुरू होते ही हीरा ने काली की ओर देखकर कहा—"भगवान् ने तुम्हें औरत का जनम किस लिए दिया है? गाँव के पास आकर तो कुछ गाओ!"

"हाँ किसी को क्या मालूम है कि तुम मेले में गई थीं।" कानजी ने हाँ-में-हाँ मिलाई।

इतने में ही दूसरे युवकों ने जी-हज़ूरी करते हुए कहा—"हाँ-हाँ गाओ, नहीं तो तुम्हारी लाज रखने के लिए हमें गाना पड़ेगा!"

युवतियों को, और उनमें भी काली को तो इससे अधिक कहने की

१. निम्न कोटि के ठाकुर, जो पटेलों से भी नीचे होते हैं। इसका विकास ठाकुरों से नीची जाति के लोगों को हेय दृष्टि से देखने से हुआ है।

ज़रूरत ही नहीं थी। दो जनियों ने मिलकर गीत उठाया :

"हम मेले का मजा लेने गये थे।
अहा, वन कैसा मोरों से भरा था।"

परन्तु जैसे ही दूसरी से तीसरी पंक्ति गाई जाने लगी कि गाँव के नाके पर स्थित छोटे-से घर से एक अधेड़ आदमी 'मेले वाले आ गए क्या ?' कहता हुआ बाहर निकला। पीछे दो-चार युवक भी आ खड़े हुए। कानजी के पास आकर उस अधेड़ ने कहा—"जो तुमने कहा था सो किया तो सही कानजी, पर अब ज्यादा देर न करना ! चाय तो हम यहीं बना लेंगे लेकिन तुम सब जल्दी आओ तो काम बने। पखावज पर आटा चढ़ाने की ही देर है।"

"तुम जरा ठोको भगतजी, इतने में हम आये !" कहकर कानजी चलने लगा।

भगतजी इस गाँव में कुछ और ही ढंग के आदमी थे। वास्तव में वे थे तो इस गाँव के पटेल ही, पर बचपन में घर से भाग गए थे। दुनियादारी के तनिक-से भी ज्ञान के बिना, खाली हाथ-पैरों के भरोसे बाहर निकल पड़ने वाले इस छोकरे पर क्या-क्या नहीं बीती थी। हल-वाई से लेकर व्यापारी तक और रामलीला से लेकर नागा बाबाओं तक उसने बहुत-सी जमातें देख ली थीं। परन्तु अन्त में वह सब-कुछ छोड़कर, और कालों के बदले आधे बाल सफ़ेद लेकर, आज से पाँच वर्ष पहले, फिर अपने गाँव में आ बसा था। 'असली नाम तो रामू था' पर अब गाँव के लोग उसे भगतजी के नाम से ही जानते थे। गाँव और जाति के रीति-रिवाजों के साथ भगतजी ने वहाँ की वेश-भूषा भी अपना ली थी। हल भी जोत लिया था और यदि औरत करने की इच्छा होती तो वह भी धरेजे[1] द्वारा पूर्ण कर सकते थे। कारण यह था कि दो वर्ष से समझदार आदमियों में गिने जाते थे। उनकी प्रतिष्ठा भी अद्भुत ढंग से जम गई

१. बिना विधिवत् विवाह किये किसी विधवा या परित्यक्ता को घर में रख लेना 'धरेजा' कहलाता है। ब्रज में भी यह प्रथा प्रचलित है।

थी। अद्‌भुत ढंग से इसलिए कि पैसा न होने पर भी भगतजी पैसे वाले समझे जाते थे। साहूकार तक उनसे मिलने आते। 'मैं तो भाई, भगवान् की पूँछ भी नहीं जानता!' जैसी स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बावजूद लोग उनको भगवान् का जानकार मानते। तान्त्रिक भी उनकी उपस्थिति से घबराते थे। सरकारी अफसर उनसे किसी प्रकार की बेगार नहीं लेते थे। हाँ, कभी-कभी भजन गाने के लिए प्रार्थना अवश्य करते थे। भगतजी जब युवकों में मिलकर बैठते तो मौजी दिखाई देते, अधेड़ों में पहुँच जाते तो स्थिर-चित्त समझे जाते और वृद्धों में बैठे होते तो अक्सर उनकी होशियारी की झलक दिखाई दे जाती। दागने और दवा के जानकार माने जाते तो किसी जिद्दी आदमी को गंडा भी बना देते। इस सबके साथ ही समूचे गाँव के बालक से लेकर वृद्ध तक—प्रत्येक व्यक्ति के लिए यदि कोई विश्वास-पात्र था तो ये भगतजी ही थे। कानजी और हीरा के तो वे ख़ास मित्र समझे जाते थे।

दमकता हुआ चेहरा, विशाल मस्तक, आधी खल्वाट खोपड़ी, सदैव अमृत बरसाती आँखें और मध्यम क़द का शरीर—यह थी भगतजी की बाह्य रूपरेखा।

कानजी ने घर आकर कपड़े बदले। लाठी लेकर बाहर जाने की तैयारी कर रहा था कि भाभी ने कहा—"खाना हो तो कुठीले में रतालू का साग पड़ा है।"

"कुछ नहीं खाना" कहता हुआ कानजी पीछे लौटा और कोट की जेब से पुड़िया निकालकर चक्की पर रखता हुआ बोला—"सवेरे रतनी को यह मिठाई दे देना।"

"सवेरे रोटी खायगी या इसे खायगी? मैंने कहा था, लेकिन फिर भी काका की देखा-देखी होड़ की। भूख से तुज-तुजकर अभी ज़रा सोई है।"

भाभी की इस बड़बड़ाहट का जवाब न देकर कानजी बाहर चला गया।

"अभी तो भजनों में और जाना होगा।" और कानजी को चुपचाप

जाता हुआ देखकर भाभी ने आगे कहा—"अब रात-भर ढोलक पीटते रहना, फिर भले ही खेत का सफाया हो जाय।"

"अगर यही बात है तो तुम्हीं जाकर रखवाली करो न!" जाते-जाते कानजी ने कहा। कानजी के ऊपर जीभ का हँसिया चलाती हुई भौजाई ने कानजी के बदले बेचारे नींद में पड़े पड़ोसी पर ही जाने-अजाने गुस्सा उतारा।

कानजी के परिवार में बड़ा भाई, भाभी और एक सातेक वर्ष की भतीजी, इतने ही प्राणी थे। यद्यपि स्वयं उसका विवाह छोटी उम्र में हुआ था तथापि विवाह के दो वर्ष बाद ही पत्नी का देहान्त हो गया था। उसके बाद किसी ने कन्या के लिए चिन्ता न की और जब घर के ही ऐसे लापरवाह हों तो कन्या की सहज कमी वाली जाति में ऐसी किसकी छोकरी फालतू रखी थी, जो खुद पूछता हुआ आता? बड़ा भाई भोला-भाला था, पर उसके भोलेपन का दण्ड तो इस समय कानजी को ही भोगना पड़ रहा था और यदि इन दो वर्षों में कोई विधवा या परित्यक्ता न मिली तो हो सकता है कि जीवन-भर ही भोगना पड़े।

कानजी से लोग कहते—"तुझे ऐसे ही भटकता हुआ रखकर इन्हें तो काम करवाना है। इनका क्या बिगड़ता है? रोटियों पर काम करने वाला मजूर मिला है तो फिर किसी को क्या पड़ी है जो कहीं पूछ-गछ कराए!" आदि-आदि।

परन्तु कानजी शान्त भाव से उत्तर देता—"अरे भाई, औरत के बिना कौन-सा काम बिगड़ा जा रहा है!" और बड़े भाई के ये शब्द दुहराता—"तकदीर में होगी तो बिना पूछे ही आ मिलेगी और यदि तकदीर में नहीं है तो हज़ार जगह धक्के खाने पर भी न मिलेगी।"

वैसे यदि सच पूछा जाय तो कानजी का अपना ही इरादा कच्चा था, नहीं तो उस-जैसे रँगीले स्वभाव वाले को अब तक कोई-न-कोई तो मिल ही गई होती। यह माना कि किसी पति को छोड़कर आने वाली स्त्री को घर में रखकर दण्ड के तीन-चार सौ रुपये भरने की सामर्थ्य उसमें

न थी, पर यदि उसने संकल्प कर लिया होता तो किसी विधवा के भाग्य को तो उसने अवश्य ही चमका दिया होता। बहुत सम्भव है कि वह ऐसे ही आत्म-विश्वास के आधार पर किसी मनचाही स्त्री की आशा में बैठा हो।

भाभी के ताने-तिसनों को हँसकर उड़ा देने वाले कानजी को न जाने क्यों आज बुरा लगा। सीधे खेत में जाने की सोची, पर कान में पखावज और मँजीरों के स्वर पड़ने से उसे अपनी राह देखती मण्डली का ख़याल आ गया। वह भगतजी के घर की ओर ही मुड़ गया।

उसे देखते ही पन्द्रह-बीस जवानों की टोली बोल उठी—"यह आया काना भाई।" दो-चार ने तो जगह करते हुए कहा भी—"अरे काना भाई को पखावज दो। तुम तो बजा चुके!"

"कानजी, पहले सीधे अन्दर आना!" अन्दर से भगतजी ने पुकारा। और कानजी के आगे चाय का प्याला रखते हुए कहा—"ले, यह चाय पी जा!" दिन में पाँच रोटी खाने वाले कानजी के पेट में आज दो प्याले चाय को छोड़कर और कुछ नहीं पड़ा था। फिर भी आज उसे भूख न थी। यदि वह 'ना' कहता तो उसकी 'ना' चलने वाली न थी। इसलिए चुपचाप चाय पी गया। उसके बाद हीरा और मनारे-जैसे दो-तीन जवानों की मण्डली के साथ ओसारे में आ बैठा। अनिच्छा होने पर भी पखावज सँभाली। भगतजी और हीरा ने मँजीरे लिये।

पखावज पर कानजी का हाथ ऐसा जम गया था कि यदि यह कहा जाय कि वह जैसा चाहता था वैसा बुलवा देता था तो कोई अत्युक्ति नहीं। उसने हथौड़ी से पखावज को कुछ ठोका-ठाका। एक गत बजाकर देखी और बोला—"अच्छा तो होने दो भगतजी!"

"पागल हो गया है क्या? यदि हमसे ही बजाना आता तो आधी रात तक तेरी राह देखने की क्या ज़रूरत थी? अच्छा चल, अब खुशामद कराये बिना शुरू कर!" भगतजी ने कहा।

"इस तरह क्या कहीं चल सकता है कानजी?" कहकर हीरा ने

भगतजी का समर्थन किया।

लाचार होकर कानजी ने गणेशजी के भजन से ही शुरुआत की। उसके बाद दो-तीन दूसरे भजन भी कहे। भगतजी, हीरा तथा एक-दो अन्य युवकों से भी एक-एक, दो-दो गवाये और इस प्रकार पहले मुर्गे के बोलने तक कीर्तन चलता रहा। लेकिन उठते समय अधिकांश लोगों ने अनुभव किया कि आज के कीर्तन में जैसा जमना चाहिए था वैसा रंग नहीं जमा। भगतजी ने तो अलग होते ही कानजी से कह भी दिया—"तू मान या न मान, पर तुझे आज कुछ हो गया है।"

"नहीं भगतजी! मुझे क्या होना है?" कहकर कानजी हँसने लगा।

"तू भले ही 'ना' कह, पर हम मानने वाले नहीं।" दूसरे ने कहा।

लेकिन इसी बीच हीरा कानजी की मदद के लिए दौड़ा—"तुम भी क्या बात करते हो भगत जी! एक तो निरजल उपवास, दूसरे सोलह कोस का सफर और फिर मेले में घूमना···। थकान तो होगी ही।"

"बात तो ठीक है" कहकर भगतजी चुप तो हो गए, परन्तु कानजी के मुख पर गड़ी हुई उनकी आँखें इसे मानने को तैयार न थीं। विदा होते हुए बोले—"अरे, यह तो जरा सोया, कि फिर जैसे-का-तैसा हो जायगा। मचान पर न जाना हो तो यहीं सो जा!"

"नहीं, मचान पर ही जाऊँगा। ले, चल हीरा! आता है क्या?" कहकर कानजी आगे बढ़ा।

थकान, भूख और जगार, तीनों इकट्ठे हो गए थे; फिर भी कानजी को आज नींद नहीं आ रही थी। आँखें कुछ झँपतीं, पर फिर खुल जातीं। ऐसे ही करते-करते जब बिलकुल सवेरा होने को आया तब कहीं नींद आई। परन्तु दिमाग में चर्खे ही घूम रहा था।

बाँस बराबर दिन चढ़ने पर कानजी की आँखें फिर खुल गईं। सारा शरीर दुख रहा था। दिमाग को भी जैसे काठ मार गया था। न

जाने कितनी देर तक वह इसी दशा में पड़ा रहा। इतने में ही उसके कानों में किसी की आवाज पड़ी और उसे चेत हुआ। "आज मुझे हुआ क्या है?" कहता हुआ बिस्तर से उठ बैठा और फिर दातुन-कुल्ला करने में लग गया।

तीसरा प्रकरण

●

मोह-पाश में

भादों की बदरीली रात थी। आकाश और पृथ्वी पर ताण्डव का आयोजन था। चारों ओर घोर अन्धकार था। आधी रात बीतने पर भी कानजी कोरी आँखों मचान की झोंपड़ी में गुदड़ी का सहारा लिये बैठा था। उसके कान खेत की सीमा पर नहीं, प्रत्युत क्षितिज की सीमा पर काबरिया पहाड़ की तराई में भटक रहे थे। प्राण घूम-फिरकर जोगीपुरा की नोक पर जा पहुँचते थे। जीवी की सुन्दर देह-लता की अपेक्षा उसकी अमृत-भरी आँखें उसे बार-बार याद आती थीं। जैसे-जैसे कानजी इस सबसे छूटने की कोशिश करता था वैसे-वैसे उसकी उलझन बढ़ती जाती थी। जीवन में कभी रोया न था, इसलिए रोने में भी उसे शर्म लगती थी। इतना होने पर भी वे ढीठ आँखें चुपचाप अश्रु-बिन्दु गिरा ही देती थीं। कानजी ने एक लम्बी साँस लेकर अपने से कहा—"अरे मूरख! न जात न पाँत, कहाँ जाकर दिल लगाया है?"

लेकिन उसके बाद उसने आज भी रोज की तरह अपना मज़ाक ही उड़ाया—"पहाड़ पर की कलेड़ी[1] बहुत ही सफेद होती है, लेकिन किस काम की? जलाने तक के काम नहीं आती।" जब कि उसके हृदय ने

१. वृक्ष विशेष, जो बहुत सफेद होता है।

रोज़ का गाना आज भी गाया—"न, न, मैं उसके रूप का भूखा थोड़े ही हूँ। रूप में तो गाँव की काली ही कौन-सी कम है? और मेरे पीछे हाथ-पैर भी क्या थोड़े मारे हैं? परन्तु नहीं, जोगीपुरा वाली की तो बात ही कुछ और है। एक झलक मिलते ही जनम-जनम की भूख भाग जाती है।"

और कानजी ने इस सुअवसर को ऐसी फुर्ती से प्राप्त किया, जैसे जीवी की झलक पाकर वह अपनी जनम-जनम की भूख को शान्त करने जा रहा हो। कुटुम्ब की एक बुढ़िया के सूतक थे। कानजी ने बिना कहे ही सात कोस पर स्थित एक बड़े गाँव से साबुन ले आने का जिम्मा लिया। हीरा-जैसों को तो अचम्भा भी हुआ—"न जाने क्यों बेकार की जानमारी कर रहा है। उस खेमा-जैसे किसी को भेजा होता तो कम-से-कम साबुन तो ले ही आता।" उसने कानजी से कहा भी, पर उसने संक्षेप में यही उत्तर दिया—"कभी ऐसा भी चक्कर लगाना चाहिए न? अगर हम ठाकुर बने घर में बैठे रहें तो क्या मुसीबत पड़ने पर कल कोई हमारे काम आयगा?"

यद्यपि इस उत्तर से हीरा को सन्तोष नहीं हुआ तथापि वह 'तुम्हारी मर्जी' कहकर चुप हो गया। अन्दर-ही-अन्दर उसके मन में सन्देह था—"हो न हो, कानजी किसी दूसरे ही कारण से जा रहा है।"

हीरा का सन्देह सत्य था। कानजी ने जोगीपुरा का ही रास्ता पकड़ा था। रास्ते में वह ऐसा भी सोचता था—"गाँव में अगर कोई नाते-रिश्तेदारी होती तो भी वह इस बहाने किसी के घर जाता। अब क्या बहाना करेगा?" लेकिन अन्त में 'चोरी के लिए मोरी भी निकल ही आयगी' यों मन में निश्चय करके उसने जोगीपुरा में प्रवेश किया।

यह ठीक है कि जोगीपुरा में पटेलों की बस्ती थी, पर वे दूसरी प्रकार के पटेल थे। यही तो कारण था, जिससे कि कानजी, हीरा आदि इस गाँव से—इस गाँव के लोगों से अपरिचित थे।

जीवी के घर की ओर मुड़ते हुए कानजी को तो यह बिना सम्बन्ध

का गाँव और भी अच्छा लगा—'यहाँ कौन जानने वाला बैठा है, जो यह कहेगा कि पटेल होकर नाई के घर क्यों गया ?'

जीवी के आँगन में पहुँचते ही कानजी के कान में घर में होती कलह की आवाज़ पड़ी। पीछे लौटने को मन हुआ, पर इतने मे ही "घर का काम जब होना होगा तब हो जायगा। मुझे तो पहले अपने बाप की टहल[1] करनी है, पीछे कुछ और" कहती हुई जीवी को हुक्के के साथ दरवाज़े से बाहर निकलते देखा। कानजी को देखते ही जीवी के शब्द मुँह-के-मुँह में रह गए। दोनों हृदयों में से कौन-सा कितने ज्यादा ज़ोर से धड़क रहा था, यह कहना कठिन है। लेकिन मुँह देखकर तो यही लग रहा था कि जीवी का ही ज़्यादा ज़ोर से धड़क रहा है। दूसरे ही क्षण जीवी ने अपने को सँभाला। कानजी से 'आओ' कहकर बूढ़े बाप के हाथ में हुक्का देती हुई बोली—"बापा, ज़रा जगह दो न !"

"हाँ भाई, हाँ आओ !" कहता हुआ बूढ़ा आँखें मींचता हुआ खाट की पाँयत की ओर खिसका। पूछा—"कौन है बेटी ?"

"वे ही, ऊधड़िया के पटेल हैं।"

"खूब आये भाई ! बेटी, इन्हें ज़रा तमाखू दे; और यदि चिलम न हो तो देख उस आले में....."

"नहीं नहीं मेरे पास है।" कहकर कानजी ने चिलम निकाली। जीवी के हाथ से चिलम लेते हुए उसका हाथ कुछ काँप रहा था। काँपते-काँपते ही उसने जीवी की उँगलियाँ भी सहज भाव से दबा दीं। जीवी कान की लौर तक ऐसे लाल हो गई जैसे उसके हृदय ने समस्त रक्त मुँह की ओर ही धकेल दिया हो।

उसने कानजी को झिड़की-भरी नज़र से देखा। बाप की ओर इशारा करके उसने पीठ फेरते हुए जो दूसरी नज़र डाली तो कानजी को लगा जैसे वह कह रही हो—'तुम्हारा भी कोई ठिकाना है।'

चिलम पीने के बाद कानजी उठा। बोला—"अच्छा तो नाई

१. सेवा।

ठाकुर अब मैं चलता हूँ। बूढ़े ने बड़ा आग्रह किया—"घर से तो जल्दी ही चले होगे। न जाने क्या खाया-पिया होगा? दूध में ज़रा आटा उबालकर···"

"नहीं-नहीं, मैं तो घर से खाकर ही मोणपुर के लिए निकला हूँ। यह तो इस मोड़ पर आकर रास्ता भूल गया, इसलिए मैंने कहा कि लाओ आया हूँ तो नाई ठाकुर से ही मिलता चलूँ!"

"बहुत अच्छा किया भाई! मिलना तो चाहिए ही। आदमी को आदमी से प्रेम न हो तो किसको होगा भाई!"

"यह तो है ही। अच्छा, राम-राम!" कहकर कानजी चला।

"अच्छा भाई! तुम्हें मोणपुर जाना है न? यहाँ से पश्चिम की ओर।"

रस्सी और हँसिया लिये दरवाजे में आ खड़ी हुई जीवी बोल पड़ी—"मैं आम वाले खेत में न्यार[1] लेने जा रही हूँ। उधर का रास्ता बता दूँगी बापा!"

"हाँ बेटा, चौमासे में रास्ता भी तो ऐसा भूल भुलैयाँ का हो जाता है कि जानकार भी···"

कानजी ने फिर 'राम-राम' की, और आगे बढ़ा। बीसेक कदम का फासला रखकर जीवी भी निकली। पीछे घर में होने वाली 'हाँ बेटी, हाँ बेटी करके लड़की को सिर पर चढ़ा रखा है, पर अगर किसी दिन कलंक का टीका न लगाए तो कहना कि मैं क्या कहती थी' इस काँय-काँय की ओर जीवी की अपेक्षा कानजी का ध्यान ही अधिक था। गाँव से निकलकर उसने जीवी से पूछा भी—"यह तुम्हारी सौतेली माँ है न?"

जीवी ने हँसकर कहा—"तुमने क्षण-भर में पंता ग्रूब लगा लिया?" और आगे बोली—"मेरी यह माँ अपनी मौसी के एक लड़के से मेरा गठबन्धन करना चाहती है। मैं मना करती हूँ, इसीलिए तो···"

न जाने गठबन्धन वाली बात से या किसी और कारण से कानजी

१. चारा।

को यह प्रसंग बहुत अप्रिय लगा। बीच में ही "जहाँ देखो वहाँ ऐसा ही है" कहकर आगे बोला—"लेकिन तुम बेकार मेरे पीछे आईं जीवी! रास्ता तो मैं किसी से भी पूछ लेता।"

जीवी ने कतराती आँखों से कानजी की ओर देखा। हँसकर बोली—"अगर ऐसे ही किसी से रास्ता पूछ लेना होता तो मोणपुर के बदले जोगीपुरा न आ निकलते!"

कानजी सन्नाटे में आ गया। जीवी की ओर देखते ही उसकी हँसी छूट गई। जैसे घबराहट दूर हो गई हो ऐसे बोला—"लगता है जैसे तुम्हें तीनों कालों का ज्ञान हो!"

"अरे नहीं, जब मुझे अपने कल का ही ज्ञान नहीं है तब तीनों कालों की तो बात ही क्या है?" कहकर जीवी मुख पर आती उदासी के घूँट को पी गई। तुरन्त बोली—"लेकिन सच बताओ, जो कुछ मैंने कहा है वह सही है या गलत?" और मादक दृष्टि से कानजी की ओर देखने लगी।

कानजी ने अपने पलक ऐसे उठाये जैसे वे मन-मन के हो गए हों। जीवी की ओर देखता हुआ एक गहरी साँस लेकर बोला—"जीवी, तू मुझे किसलिए बुलाती है? न जाने उस दिन से मुझे क्या हो गया है! सच कहता हूँ, मुझसे पेट भरकर अन्न भी नहीं खाया जाता।"

जीवी ने गुप्त ढंग से साँस ली। कहना चाहा—'तो यहीं किसने खाया जाता है' पर यह न कहकर हँसती हुई दूसरी बात कहने लगी—"किसी की नजर तो नहीं लग गई है? किसी स्याने[1] को दिखाकर···"

क्षण-भर के लिए कानजी हतप्रभ हो गया, पर दूसरे ही क्षण जीवी की आँखों से आँख मिलते ही हँस पड़ा। लेकिन वह कितनी देर को? कुछ ही देर बाद बोला—"तुझे यह सब मजाक लगता होगा, क्यों?"

"मजाक नहीं तो और क्या? बहादुर आदमी होकर ऐसे ढीले क्यों हो?"

१. तांत्रिक।

"तेरी जो इच्छा हो सो कह ! लेकिन देख, अगर किसी दिन मुझे गुस्सा आ गया तो सोती को उठा ले जाऊँगा···!" कहकर कानजी जीवी की ओर देखता हुआ हँसने लगा। खेत के अड़बंगा[1] के पास आकर जीवी खड़ी हो गई।

होठों में ही हँसती हुई बोली—"सोती को तो दुनिया उठा ले जाती है, जागती को उठा ले जाओ तो जानूँ!" और कुछ कहना चाहने वाले कानजी को चुप करती हुई आगे बोली—"एक औरत के लिए अपने शरीर को भ्रष्ट करते हुए लाज भी नहीं आती!"

"जब प्राणों को भ्रष्ट करते हुए ही लाज नहीं आई तब शरीर को भ्रष्ट करते हुए क्या लाज आयगी? लेकिन सच कहता हूँ" कानजी को गुस्सा आ रहा था या और कुछ हो रहा था, यह तो वह जाने; पर उसकी मुद्रा अनायास विकृत हो गई थी। जैसे उसे बोलने तक का होश न हो।

जीवी ने अड़बंगा लाँघते हुए कहा—"यहाँ रास्ते में न कहकर जो कुछ कहना हो सो खेत में कहना!" लेकिन कानजी को जहाँ-का-तहाँ खड़ा देखकर जीवी भी रुक गई और बोली—"चलो न, दो घड़ी बातें करेंगे!"

"सच कहता हूँ! देख, मुझे बुलाने में कुछ सार नहीं निकलेगा।" कहता हुआ कानजी, जैसे बेहोशी की दशा में हो, अड़बंगा की ओर बढ़ा। अन्दर पहुँचते-पहुँचते तो उसकी आँखें फट चुकी थीं। बिना इधर-उधर देखे ही उसने पीठ फेरती हुई जीवी को जेट[2] में भर लिया, मुँह पर स्नेह की मुहर लगाई और फिर छोड़ दिया। बीवी गिरते-गिरते बची। वह अड़बंगा के बाहर ऐसे निकला जैसे जल उठा हो। जीवी की ओर दृष्टि डालकर जाते-जाते बोला—"एक दिन उठा न ले जाऊँ तो

१. खेत में घुसने का स्थान; जिसमें एक लकड़ी से कामचलाऊ फाटक-सा बना लेते हैं।

२. दोनों बाँहों में।

कहना कि क्या कहता था ?"

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कानजी की पीठ को देखती हुई जीवी की आँखों में आने वाले आँसू हर्ष के थे या शोक के, गुस्से के थे या परेशानी के, या फिर किसी और चीज के, पर इतना निश्चित है कि आँसू आ अवश्य गए थे।

चौथा प्रकरण

●

माया की भँवर में

कानजी के मचान पर कानजी, हीरा और भगतजी तीनों बैठे थे। हीरा मक्का के भुट्टे भून रहा था। गुदड़ी पर बैठे हुए भगत जी हाथ के भुट्टे से एक-एक, दो-दो दाने नुकाते और मुँह में डालते जाते थे और कानजी की ओर देखते हुए किसी विचार में मग्न दिखाई देते थे। जब कि झोंपड़ी के खम्भे का सहारा लिये पैर-पर-पैर रखे बैठे कानजी की नज़र सामने आकाश पर गड़ी थी। हीरा ने एक भुट्टा भूनकर कानजी की ओर रखा, दूसरे में से मुट्ठी-भर दाने नुकाकर मुँह में डाले और फिर दूसरे भुट्टों को फेरने लगा।

"यह भुट्टा ले कानजी! अरे आसमान में क्या देख रहा है?" भगतजी ने कहा।

"मैं यह सोच रहा हूँ भगतजी कि भगवान् ने यह सब टंटा खड़ा किसलिए किया है?"

"किसलिए? सिर्फ नष्ट होने के लिए। आदमी को क्या करने के लिए पैदा करता है? मारने के लिए ही न?" भगतजी ने कहा।

"उसे इसी में मज़ा आता है, क्यों भगतजी?" कानजी सचेत हुआ। बगल में पड़े भुट्टे को उठाकर फिर उसकी ओर देखने लगा।

"लेकिन आजकल तुझ पर यह वैराग्य कहाँ से सवार हुआ है ?" कहकर हीरा ने दानों की दूसरी मुट्ठी मुँह में डाली।

जैसे हीरा की बात ही न सुनी हो ऐसे कानजी कुछ देर बाद बोला—"यह सब माया ही है, क्यों भगतजी ?"

"माया न हो तो आदमी जिये ही क्यों ?" कहकर भगतजी सजग हुए।

"लेकिन गीता में तो भगवान् ने माया से विलग रहने के लिए कहा है भगतजी !"

"यह भी माया है भाई !" कहकर भगतजी कुछ हँसे।

कानजी ने भगतजी की ओर दयनीय दृष्टि से देखा। कहा—"नहीं भगतजी ! ऐसे उड़ाओगे तो काम नहीं चलेगा। ठीक जवाब दो !"

"ठीक जवाब तो मुझसे नहीं आता। तू भी गीता पढ़ता है और मैं भी पढ़ता हूँ। जो तेरी समझ में आए सो तेरा और मेरी समझ में आए सो मेरा। और उस हीरा की समझ में कुछ भी नहीं आता तो इसके लिए कुछ भी नहीं है। क्यों हीरा ?" कहकर भगतजी फिर हँसने लगे।

हीरा ने भगतजी के लिए हूँकारा न भरकर उनकी ओर क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा—"अगर सच पूछो तो भगतजी इस कानजी को तुम्हींने बिगाड़ा है। तुम्हींने इसे पढ़ाया और अभी-अभी यह जो गीता बाँचने लगा है सो भी तुम्हारे ही कारण !"

लेकिन जब यह मुझसे पढ़ा था तब तो 'सदेवंत सावलिंगा' और 'गजरा मारू'[1] बाँचने-भर को पढ़ा था। उस वक्त मुझे क्या पता था कि यह गीता की माया में पड़ जायगा।" कहकर भुट्टे की छल्ली बाहर फेंकते हुए बोले—"लाओ एकाध नरम देखकर, हो तो, नहीं तो चलें !"

हीरा ने एक भुट्टा भगतजी को दिया और दूसरा कानजी की ओर कर दिया।

"मेरे पास तो है, तू खा ले !" कानजी ने कहा।

१. गुजराती लोक-प्रेम-कथाएँ।

"अच्छी बात है।" कहकर हीरा ने पहले भुट्टे का दाने नुकाकर छल्ली फेंक दी। हाथ के दाने मुँह में डाले और दूसरा भुट्टा लेकर खड़ा होता हुआ बोला—"लो, उठो भगतजी! तुम दानों की होड़ करूँ तो भीख माँगनी पड़े। चलो, चलना हो तो!"

"अरे, चल तो रहा हूँ!" कहकर भगतजी उठे।

कानजी से विदा लेकर दोनों जने नीचे उतरे। अकेले पड़े हुए कानजी के कान में कौओं की आवाज़ आई। "धत्तेरे की! साले खा गए न?" कहता हुआ कानजी उठा और बगल में रखी गोफन तथा पत्थर हाथ में लिये।

सिरडुबाऊ मक्का में होकर जाते हुए हीरा तथा भगतजी के सिर के ऊपर से पत्थर गोले की तरह 'सननन' करता हुआ निकल गया। हीरा बोल उठा—"अरे, देखना कहीं हमारा सिर न फोड़ देना!"

"इतना ज्यादा डर लगता है तो सिर को साथ लिये क्यों फिरता है, घर ही छोड़ आना था न?" कहकर गोफन में दूसरा पत्थर रखता हुआ कानजी हँसने लगा।

रास्ते पर आकर हीरा ने भगतजी से कहा—"मुझे लगता है कि यह कानजी अबेर-सबेर साधू हो जायगा। भगतजी, आजकल उसके रंग-ढंग उस सब माया को छोड़ जाने के-से लगते हैं।"

भगतजी हँसे और बोले—"इसके विपरीत मुझे और ही भय है हीरा! मुझे तो उलटा ऐसा लगता है कि यह किसी माया में गहरे-से-गहरा फँसता चला जा रहा है।"

"नहीं, नहीं भगतजी! ऐसा कैसे हो सकता है?" कहकर हीरा सोच में पड़ गया—"भगतजी न जाने किस माया की बात करते हैं?"

मुँह नीचा करके चलने वाले विचार-मग्न-से भगतजी फिर बोले—"तू मान चाहे न मान, पर इसका पैर किसी गड्ढे में पड़ गया है।"

"नहीं भगतजी, ऐसे तो लाख गड्ढे फलाँग जाय तो भी कानजी को कुछ नहीं होने का, वह खुद स्यानों और भूत-प्रेतों का मुकाबला करता

है, यह क्या तुम नहीं जानते ?"

भगतजी को कुछ हँसी आ गई। "मैं जिस गडढे की बात कहता हूँ वह और ही है हीरा !" कहकर ज़रा रुके और हीरा की ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—"कानजी का यह दर्द मैं समझ गया हूँ। इसे कोई जीती डाकिन लग गई है।" और आगे बढ़ते हुए जैसे तीनों कालों के रहस्य का उद्‌घाटन करने की कोशिश करते हुए वे बोले—"या तो कोई मेहमान बनकर आया हो, या यह खुद किसी दूसरे गाँव में गया हो, या फिर राह चलते बनौआ बना हो—कुछ भी हो, पर तू विचार करके देखना हीरा ! अगर झूठ निकले तो मेरे मुँह पर थूक देना !"

हीरा की आँखें जैसे फट-से खुल गईं। उसे याद आया कि पन्द्रह दिन पहले कानजी साबुन लेने गया था। जैसे सारा भेद खुल गया हो। मन-ही-मन कहने लगा—"हो न हो, कानजी को उस नाइन की ही माया लगी है। ऐसा न होता तो वह साबुन लेने जाता ही नहीं। जोगीपुरा गये बिना उसे इतनी देर हो ही नहीं सकती थी।" एक लम्बी साँस लेकर सिर हिलाते हुए हीरा बोला—"यदि तुम्हारा कहना सच है तो गजब हो गया भगतजी !"

परन्तु भगतजी ने न तो 'क्या ग़जब हो गया'-जैसा सवाल ही किया और न इस विषय में कुछ पूछा ही। जैसे कुछ सुना ही न हो ऐसे बोले—"तू तो घर ही जा रहा है न ? तो ले, मैं ज़रा खेत में चक्कर लगा आऊँ !" कहकर वे दायें हाथ को मुड़ गए।

जैसे कोई पहले पतली पगडण्डी से रास्ता दिखाता हुआ लाए और फिर तीन रास्तों के अपरिचित तिराहे पर छोड़कर चलता बने, ऐसे मुँह फाड़े हुए हीरा भगतजी की ओर ताकने लगा। बोला—"लेकिन भगतजी, तुम पूरी बात तो सुनो ! इसका कोई हल तो···"

भगतजी ठहर गए। हीरा की ओर दया-भरी दृष्टि से देखते हुए हँसकर बोले—"अरे तू भी क्या आदमी है ? यह तो जिसने उलझाया है वही सुलझायगा। इसमें तू इतना ज्यादा परेशान क्यों होता है ?"

भगतजी की ओर क़दम बढ़ाता हुआ हीरा कहता जा रहा था—"लेकिन यह तो किसी के बाप से भी सुलझने लायक नहीं। ज्यों-ज्यों सुलझाने की कोशिश होगी त्यों त्यों उलटा और उलझेगा। तुम पूरी बात तो···"

हीरा अपनी बात कहना चाहता था जबकि भगतजी जैसे बात सुनना ही नहीं चाहते हों ऐसे बीच में बोले—"लेकिन पूरी बात सुनकर भी मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? और तू भी क्या कर सकता है? इसे तो वह स्वयं ही सुलझा लेगा। बिना किसी तरह की चिन्ता किये तू अपने घर जा और किसी काम में लग!" कहकर भगतजी फिर चलने लगे!

हीरा भगतजी की पीठ को देखता रहा। एक बार कानजी के पास जाकर, 'तूने यह क्या सोचा है कानजी?' कहकर झाड़ने का भी विचार आया। लेकिन 'इतना समय बीतने पर भी उसने मुझसे कोई बात तक नहीं की।' इस भावना से 'जाने दो, फोड़ेगा अपना करम!' यों बड़-बड़ाता हुआ अपने घर चला गया।

लेकिन कानजी ने हीरा से जो बात नहीं की उसका कारण स्पष्ट था। जहाँ कुछ उपाय न हो वहाँ ऐसी पागलपन की बात करके क्यों मूर्ख बना जाय? सोचने को जो-कुछ था वह सब तो उसने मन-ही-मन सोच कर देख लिया था। जीवी के साथ अपना जीवन मिला देने में उसे जाति की भी परवाह न थी। बड़ा भाई घर में हिस्सा न देगा या गाँव के लोग गाँव में न रहने देंगे, इसकी भी उसे विशेष चिन्ता न थी। चिन्ता थी तो बड़े भाई के जीवन की। इसके साथ ही उसे अपनी इस बाढ़ पर आई हुई जवानी का भी ज़्यादा भरोसा न था। और जीवी के प्रति आकर्षण में भी उसे 'कोरा भ्रम है'-जैसा भय लगा करता था। परन्तु यह भय उसने अपने-आप खड़ा किया है, इसकी भी उसे ख़बर न थी।

बड़े भाई का एक हाथ ही टूटा हुआ न था प्रत्युत शरीर और मन भी आधे टूटे हुए थे। यही तो कारण है कि पाँच वर्ष पहले गुज़र जाने

वाले पिता ने, जिसके रेखें तक न निकली थीं ऐसे छोटे बेटे को पास बिठाकर बड़े की देख-भाल करने के लिए कहा था—"कानो ! अपने बड़े भाई की सिधाई देखना बेटा ! कल तू बीवी-बच्चों वाला होगा—और मुझे भरोसा है कि तू औरत पाये बिना न रहेगा—लेकिन फिर भी तू अलग न होना, समझा ! औरतों को साथ रहना अच्छा नहीं लगता लेकिन फिर भी बेटा, तू अपने बड़े भाई को न छोड़ना ! अलग रहे तो भी तू उसके घर का बोझ स्वय उठाना। तेरी भाभी मानुख है तो बोलेगी भी। लेकिन तू तो मेरा सयाना बेटा है न ? उसकी बातों पर न जाना और अपने बड़े भाई को परेशान न करना !"

और कानजी ने भी अपना व्यवहार आज तक ऐसा ही रखा था। बड़े भाई से वह शायद ही कभी कोई काम करवाता। इस प्रकार बड़े भाई एक तो वैसे ही बैठे रहने के आदी थे, दूसरे 'बड़े भाई जाओ न, अमुक के यहाँ मेहमान आये हैं तो दो घड़ी जाकर बैठो न, काम तो मैं और भाभी मिलकर कर ही लेंगे।' ऐसा कह-कहकर उन्हें और भी आलसी बना दिया गया था। यह सच है कि भाभी और देवर में ज्यादा नहीं पटती थी, लेकिन कानजी अब उनके बहुबोला स्वभाव का अभ्यस्त हो गया था। उलटकर जवाब देता तो झगड़ा ही बढ़ता न ? इसलिए कानजी मन-ही-मन भौजाई का बखान करता था; क्योंकि ऐसे पैसे-टके और शरीर के होते हुए भी साधारण आदमी का घर चलाना एक धरजे वाली जाति की स्त्री के लिए बखान करने-जैसा तो था ही। कानजी यह जानता था कि यदि उसकी जगह और कोई होती तो शायद घर छोड़कर ही चली गई होती। इसलिए इस प्रकार कलह करने पर भी भाभी का यह सद्‌गुण कि उसने उसका घर बनाया है, उसकी नजर से बाहर न था। दूसरी ओर कानजी के सद्‌गुण भी उसके बड़े भाई, भगतजी, हीरा और अन्य समझदार लोगों की नज़रों से बाहर न थे। इसीसे तो लड़ते-झगड़ते लोग अपने जवान लड़कों को कानजी का उदाहरण देते थे।

यह सब सोचकर देखने से हीरा को भी यह विश्वास हो गया था कि

जीवी से कानजी का मन चाहे जितना लगा हो, पर वह उसे घर में बिठाने का काम कभी नहीं कर सकता। लेकिन दूसरी ओर वह ऐसे नुस्खे की भी खोज में था जिससे कि कानजी के जीवन में कुछ शान्ति आवे और एक रात उसके मन को वह सूझ भी गया। दूसरे दिन सवेरे उसने चाय मचान पर ही रखी। ज़ोर से आवाज़ लगाकर सामने के मचान से कानजी को बुलाया। दो ही जने थे। चाय पीते-पीते हीरा ने बात छेड़ी—"कानजी! मैं एक बात पूछूँ?"

"पूछ?" कहकर कानजी आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखने लगा।

"सच कहोगे?"

कानजी ने दर्द-भरी आँखों से हीरा को देखा और नीरस हँसी हँसते हुए बोला—"क्या कभी ऐसा हुआ है जो मैंने तुझसे झूठ कहा हो? फिर आज तू ऐसे क्यों पूछ रहा है हीरा?"

"नहीं, नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं, पर मुझे लगता है कि इधर तू मुझसे दुराव रखने लगा है। तेरे मन में कुछ····"

"दुराव-जैसा तो कुछ नहीं, पर जब कुछ कहने लायक हो तभी तुझसे कहूँ न? बेवकूफी की बात करने से फ़ायदा ही क्या है हीरा?"

"तो तेरा नुकसान ही क्या हो जायगा?" कहकर हीरा हँसने लगा। कानजी को चुप देखकर वह फिर बोला—"किसी से बात कहने से और कुछ नहीं तो मन तो हल्का हो ही जाता है। अकेले-अकेले पीते रहने से तो किसी दिन उलटा दिमाग़ फिरने का डर है।" हीरा ने साठ वर्ष के वृद्ध की भाँति गम्भीर होकर कहा।

"लेकिन अब ऐसी चिन्ता की ज़रूरत नहीं हीरा! दिमाग़ फिरने वाला होता तो अब तक फिर गया होता। अब तो मैंने उस बात को गहरा गाड़ दिया है।"

"तो गाड़ने के बाद तो अब कुछ बता!"

नीची गरदन करके कानजी ने मचान से खींचे हुए फूँस के तिनकों को तोड़ते हुए कहा—"जब तुझे सब-कुछ मालूम हो गया है

तो क्या मुझसे कहलाये बिना काम न चलेगा ?"

यह सुनकर हीरा का मन सचमुच हल्का हो गया। हँसते हुए बोला—"मुझे तो विश्वास था कि यह सब मृगतृष्णा है। तू उसके पीछे व्यर्थ ही पागल हो गया था। और फिर उसमें ऐसा है ही क्या, जो....."

"उसमें क्या है, यह तो मैं भी नहीं जानता हीरा, पर कुछ तो है ही। मेरी जात की होती तो मैं उसे घर में डाले बिना न छोड़ता !" कानजी ने कहा। उसके मुख पर दृढ़ निश्चय की झलक थी।

"अरे, अगर जात की होती तो फिर बात ही क्या थी। और अभी भी क्या बिगड़ा है ? अपनी जात में उससे हज़ार गुनी अच्छी मौजूद हैं। तू जिसे कहे, उठा लावें। रात में दो-तीन सौ रुपया दण्ड ही भरना पड़ेगा न ? चाहे तो चोरी करके ले आयँगे। एक बार तू किसी को पसन्द तो कर ! सब हो जायगा।" कहता हुआ हीरा सावधान हो गया। "क्या पागल हो गया है ?" कहकर क्षितिज की ओर देखते कानजी से फिर कहा—"वह दूसरी जात की है उसीसे इतना प्यार दिखाती है। अगर जात की होती तो तो, 'नहीं भाई, मेरे बाप की इज्ज़त धूल में मिल जायगी' कहकर कभी की किनारा कर गई होती।"

जैसे किसी नादान की ओर देख रहा हो ऐसे कानजी ने हीरा की ओर देखा और कहा—"तब तो तू उसे अभी पहचानता ही नहीं। यद्यपि मेरे और उसके बीच अभी ऐसी कोई बात नहीं हुई है तो भी मुझे इतना तो भरोसा है कि अगर मैं उससे अन्धे कुएँ में गिरने को कहूँ तो वह हँसते-हँसते गिर पड़े।" और एक गहरी साँस लेकर आगे कहा—"हीरा, भगवान् ने रूप से तो सारा संसार भर दिया है पर वैसा हृदय कहाँ है ? सच्चा मोल तो हृदय का ही है पगले ! क्या तुझे वह दोहा याद है :

मोल बैल को सींग ते, अश्व कान को कोर।
मोल क्यों मनुज को, अन्दर गहन अथोर॥"

"यह बात है हीरा ! बैल का मूल्य उसके सींगों से होता है, ऐसे ही घोड़े का मूल्य उसके कान की कोर से होता है; पर मनुष्य का मूल्य तो मूरख, हृदय देखकर ही आँका जा सकता है—फिर भले ही वह ऊँची जात का हो या नीची जात का !"

कानजी की वाणी और मुखमुद्रा देखकर क्षण-भर के लिए तो हीरा का मन हुआ कि कह दे 'तो कर डाल !' लेकिन वह जानता था कि ऐसा कह देने-भर से तो कुछ होने का नहीं। जात-पाँत, भाई-भौजाई और नाते-रिश्तेदार तो छोड़े जा सकते हैं पर आगे चलकर जो बाल-बच्चे होंगे उनकी क्या दशा होगी, यह सोचकर हीरा ने एक निःश्वास छोड़ा और कहा—"यह सब ठीक है कानजी, पर अपने गँवार लोग यह सब-कुछ थोड़े ही समझते हैं ?" कहकर कुछ समझा हो तो उस पर भी पानी फेरते हुए हीरा ने कहा—"हमसे क्या कहीं जात-पाँत या नाते-रिश्तेदार छोड़े जा सकते हैं ?"

"इसीलिए तो मैंने अब तक यह सब टाला है। यह तो तूने बात छेड़ी है, इसलिए कहता हूँ। बाकी तो मेरे मन में अब ऐसा कुछ नहीं। वैसे तो जैसा भगतजी कहते थे, मेरा मन तो अमृत पीने को बहुत ललचाता है, पर आख़िर तो ठहरा स्वर्ग का अमृत। कहीं जीते-जी पीने को थोड़े ही मिल सकता है ?" कहकर कानजी ने हँसने का प्रयत्न किया। अलाव पर रखी पतीली की ओर दृष्टि डालते हुए बोला—"ले बातों-ही-बातों में पानी ही जला दिया—और डालना हो तो डालकर खत्म कर ! चल, मुझे तो अभी तिल देखने के लिए भूड़रा[1] में जाना है।"

"मेरे काम का भी पार नहीं।" कहकर हीरा अलाव की ओर मुड़ा। आग दहकाकर ज़रा देर में चाय तैयार की। उसके बाद दोनों जने कुछ सोच में पड़ गए। चाय पीते समय होने वाले सड़ाके के सिवाय पूर्ण निस्तब्धता थी। सिर के ऊपर से उड़ने वाले कौए भी जैसे

१. रेतीला खेत, जिसमें झाड़ियाँ आदि रहती हैं।

चोर की तरह उड़ रहे थे। उनसे कुछ ही ऊपर तोतों का झुण्ड यद्यपि बोलता हुआ जा रहा था तथापि उसकी आवाज़ उगते हुए सूरज की धूप में समाई-सी जा रही थी।

चाय ख़त्म करके हीरा ने हुक्का भरा। आधा तमाखू जलने तक उसे कानजी की ओर बढ़ाने का ख़याल भी नहीं आया। जैसे उसके दिमाग़ में कुछ बैठ गया हो ऐसे उसने कानजी की ओर एक-दो बार देखकर कहा—"ऐं कानजी, अगर इस छोरी को अपने गाँव में बिठा दिया जाय तो क्या नहीं चल सकता?"

"कहाँ?" कहते हुए कानजी के मुँह पर खीझ और जिज्ञासा दोनों थीं।

"कहाँ क्या? अपने गाँव का धूलिया नाई बेचारा रँडुआ[1] है न? हो सके तो कर डाल!" कहकर हुक्का देते हुए आगे बोला—"बेचारा जब तक जियेगा, असीस देगा, समझे!"

"अरे, यों क्या किसी की छोरी फालतू है हीरा? तू भी क्या बात करता है?" कहकर कानजी हँसा; पर इस हँसी में 'कहाँ यह कौआ और कहाँ वह कोयल!' ऐसा कुछ भाव था।

"लेकिन तेरी इस बात से तो मुझे लगता है कि अगर तू कहेगा तो वह अवश्य मान जायगी। और यदि तुझे उस पर पूरा भरोसा हो तो फिर उसके माँ-बाप भले ही विरोध करते रहें। कोई परित्यक्ता तो है नहीं, जो नाई की जात को भी परेशान कर सके।"

हुक्के के दो-चार कश मारता हुआ कानजी बोला—"किसी से कहना नहीं, समझे!"

"लेकिन इसमें बुरा क्या है? यह नहीं तो इसका भाई दूसरा, पर किसी का घर बसाये बिना वह थोड़े ही रहेगी? इसलिए अगर गाँव के ही नाई का घर बस जाय तो क्या बुरा है? इस बेचारे में ऐसा दम नहीं कि इसे दूसरी कोई औरत मिल जाय और इसका वंश चल जाय।"

१. विधुर।

हीरा बोला और कानजी को चुप देखकर फिर कहा—"हो सके तो कर डाल न ! नानी काकी तो तुझे भगवान् की तरह पूजेगी !" और हँसते हुए फिर आगे कहा—"और हम गाँव के लोग भी तेरा क्या कम अहसान मानेंगे ?"

कानजी ने खड़े होने की तैयारी करते हुए कहा—"अरे चल-चल ; अपना काम देख !"

दोनों जने मचान से नीचे उतरे। अलग होते हुए हीरा ने कहा—"मैं मजाक नहीं करता कानजी ! मैंने जो-कुछ कहा है उस पर तू विचार करना ! एक पन्थ दो काज-जैसी बात है। आगे तू जान !"

कानजी ने फिर वैसे ही कहा—"तू जा न चुपचाप !" और होठ चबाता हुआ वह सिरडुबाऊ मक्का में खो गया।

पाँचवाँ प्रकरण

●

मन्थन

हीरा का उस दिन का 'एक पन्थ दो काज' वाला वाक्य कानजी के दिमाग़ में कई दिन तक घुमड़ता रहा। कभी उसे हीरा पर क्रोध आता तो कभी यह उपाय बताने के लिए उसके प्रति प्रेम भी उमड़ने लगता। ठिगना कद, गोल मटकी-जैसा मुँह, काले पड़ते रंग में बिल्ली-जैसी भूरी आँखें—धूला की इस मूर्ति के सामने आते ही उसका जी घबराने लगता। वह मन-ही-मन कहता—"और फिर साला स्वभाव का भी तो चिड़चिड़ा है।"

लेकिन दूसरी ओर उसे यह भी होता—"लेकिन उसकी भी क्या गारण्टी है कि उसे दूसरा कोई अच्छा ही दूल्हारा-सा मिलेगा? उस दिन बेचारी कह रही थी न कि उसकी सौतेली माँ उसे अपने किसी सगे के गले बाँध देने की कोशिश कर रही है। विरोध कर-करके भी वह कब तक बचेगी और फिर उसका ज़ोर भी क्या चलेगा। बेचारी किसी सूने घर में जा पड़े, उससे यह धूलिया का घर ही क्या बुरा है? खाने-पीने का आराम तो है ही। नज़र के सामने भी रहेगी?"—और इस प्रकार इतने दिन के मन्थन के बाद यह अन्तिम वाक्य उसके दिमाग में—उसके दिल में अच्छी तरह जम रहा हो ऐसे एक दिन उसने निश्चय

कर ही डाला—'जब हीरा पीछे पड़ा है तो फिर होने दो। उस दिन बेचारी नानी काकी भी कैसी कह रही थी। किसी का वंश चले, इससे बड़ा और पुण्य भी क्या है?'

एक दिन तो हीरा का आग्रह मानकर कानजी जीवी से तय करने के लिए जाने को तैयार भी हुआ; लेकिन जाते जाते उसने हीरा के सामने अपना डर व्यक्त किया—"हीरा, जा तो रहा हूँ और मुझे पूरा भरोसा है कि जीवी मेरी बात न टालेगी। लेकिन देखना, यह धूलिया साला बन्दर-जैसा है", और कहीं हीरा कानजी से 'तो मरने दे'-जैसी बात न कह दे, इस डर से उसने आगे कहा—"वैसे मैं तो तेरा कहा करने को तैयार हूँ।"

"अरे यह धूलिया भी बेचारा क्या करेगा? इतनी उम्र पर—तीस तो होने को आये होंगे—अब इसे कौन औरत दे देगा। इतना तो यह भी समझता है कानजी!" कहकर कुछ रहस्यमयी मुस्कान के साथ हीरा आगे कहने लगा—"अच्छे-अच्छे मूँछों पर ताव देने वाले भी जब देखते रह जाते हैं तो बेचारा धूलिया किस गिनती में है?"

हीरा के कहने का मतलब कदाचित् कानजी समझ गया था। उसे हीरा पर कुछ क्रोध भी आया। आँखों को ज़रा चौड़ाकर बोला—"नहीं, नहीं हीरा! तू मुझे इतना ज्यादा नीच न समझना, हाँ! यह ठीक है कि अगर वह अपनी आँखों के सामने रहे भी तो ज़रा एक प्रकार की शान्ति मिलेगी और क्या?···"

"मैं भी तो यही कहता हूँ न? यह जो तू सात-सात कोस का चक्कर लगाता है सो तो बन्द हो जायगा।" हीरा ने कह ही डाला।

हीरा ने जैसे कानजी के मन की बात खोल दी हो ऐसे कानजी गम्भीर हो गया। मन-ही-मन बड़बड़ाता-सा बोला—"नहीं, तब तो मैं हरगिज़ न जाऊँगा हीरा! भले ही धूलिया सात जनम बिना औरत के क्यों न रहे? और अगर गाँव में नाई का घर न भी बसेगा तो उसमें मेरा क्या?"

हीरा का मुँह फक हो गया। बोला—"लेकिन इसमें मैंने तुझसे ऐसा कहा ही क्या है, जो तू यों बात से हट रहा है। नानी काकी के सामने बात-चीत करके सब-कुछ तय किया है और अब तू फिर···"

कानजी बीच में ही बोल उठा—"यह सब ठीक है; लेकिन उस दिन नानी काकी जो-कुछ कह रही थी वह क्या तूने नहीं सुना? एक बार जिस देवी ने अपने बाप से गुस्सा होकर मना कर दिया हो उसे धूलिया पसन्द आये तभी न—और फिर उलटा उसे ही लज्जित करके 'हाँ' कराना भी तो ठीक नहीं है हीरा!" और लम्बी साँस लेकर आगे कहा—"मरने दे हीरा! अपने को न कुछ लेना, न देना! नाहक····"

"अरे भले आदमी, लेकिन इसमें तो दो सौ रुपये का सौदा हो तो भी धूलिया···"

"इन दो सौ रुपयों का नाम सुनकर कानजी को हीरा के ऊपर इतना ज्यादा गुस्सा आया कि उसने तमाचा तो न मारा पर इतना तो कह ही दिया—"क्या करूँ हीरा! यदि तेरी जगह कोई और होता तो अभी खींचकर दो तमाचे जड़ देता!" और आग बरसाती हुई आँखों से घूरता हुआ बोला—"मैं कोई जीवी को बेचने नहीं निकला, जो तू ऐसा लालच दिखाता है।"

"लेकिन तुझसे कहता कौन है?" कहकर हीरा चुप हो गया, पर उसके मन में तो हो ही रहा था—'तो मुझे ही क्या? यह तो तेरी हालत देखकर मुझे इतना कहना पड़ा। मेरे विचार से तो इससे धूलिया का घर बस जायगा और आँखों आगे रहने से तेरे कलेजे में ठण्डक पड़ेगी। अब तो ज्ञान बघार रहा है पर कुछ ही दिनों में माथे पर भसम न लगावे तो कहना कि हीरा क्या कहता था?' हीरा ने एक गहरी साँस लेकर खड़े हुए कानजी को देखा। एक बार आखिरी बात कहने के इरादे से बोला—"देख, तुझे जाना हो तो जा, फिर देर होगी।" और कानजी को होठ चबाता हुआ देखकर फिर कहा—"न जाना हो तो तू जाने, लेकिन अब भी अपने मन से पूछ देख—अपनी जीभ से यदि

किसी का भला हो तो उसमें मुझे तो कुछ बुराई नहीं दीखती। दिन तो यहीं ढला जा रहा है, फिर तेरे जाने से क्या फायदा ?"

"एक बार देखूँ तो सही। इस बहाने उसकी (जोबी की) भी परख हो जायगी।" यह सोचकर कानजी खटखट मचान की सीढ़ियाँ उतर गया।

हीरा का मन हुआ कि पूछे—"अरे वहीं जाता है कि कहीं और ?" लेकिन यह न पूछकर 'जो होगा सो रात को मालूम हो जायगा' सोचकर चुप हो गया।

अपनी ही प्रियतमा की किसी दूसरे व्यक्ति से मँगनी कराने के लिए निकले कानजी के मन में रास्ते में क्या-क्या विचार नहीं उठ रहे थे। कहीं रास्ता भूलता तो कहीं ऊबड़-खाबड़ रास्ते से गुजरकर रास्ते को छोटा करता वह जोगीपुरा के कुए के ऊपर आया और किसी दूर से चलकर आये हुए यात्री की भाँति पारछे[1] के किनारे पर बैठ गया। खरीफ़ की फसल कटने के दिन होने से अभी पनघट सूना-सा था। लेकिन इसी बीच गाँव के ढाल से उतरती एक पनिहारिन दिखाई दी। कानजी को लगा कि अगर वह किसी ऊँची जाति की हुई तो पानी पीना पड़ेगा और यों पानी पीने का बहाना न रहने से कुए पर ज्यादा देर तक बैठा न रहा जा सकेगा। वह तुरन्त लाठी लेकर उठा। पास के एक खेत में गया। तमाखू भरकर किसान से बातें करता हुआ और कुए पर नजर रखता हुआ काफी देर तक बैठा रहा। कण्डे की आँच होने पर भी उसे तमाखू में मज़ा नहीं आ रहा था। रुचि हो तभी आवे न ?

इतने में ही मणी-जैसी किसी औरत को आते देखा। पूरी तरह निश्चय करके उस किसान से 'राम-राम' करता हुआ खड़ा हुआ। बगल में लाठी दाबे चिलम में दम लगाता हुआ धीरे-धीरे कुए की ओर चलने लगा। मणी की नज़र-से-नज़र मिली। कानजी ने आँख के इशारे से ही

१. कुए पर पुर या चरस खींचकर जहाँ उसे खाली करते हैं उसे 'पारछा' कहते हैं। वहीं किसान खड़ा होता है।

उसे चुप रहने के लिए कह दिया ।

"क्या पटेल हो ? ज़रा पानी पिलाओगी ?" कानजी ने मणी से पूछा ।

"पियो भाई ! क्या पनघट पर आये हुए को भी नहीं पिलायँगी ?" पानी भरती हुई दूसरी स्त्री बोली । पूछा—"कौन जात हो भाई ?"

"मैं भी हूँ तो पटेल !" कहते हुए कानजी ने बगल से लाठी निकाली और पैर का सहारा देते हुए नीचे रखी ।

"अच्छा भाई अच्छा !" कहकर आखिरी कलसिया खींचती हुई उस स्त्री ने मणी से पूछा—"तू पिलायेगी या मैं ?"

"तुम अपनी भरी कलसिया को क्यों खाली करती हो ? मेरी इस कलसिया में से मटका भरने के बाद पानी बचेगा सो मैं पिला दूँगी । लो तुम्हें उचा[1] दूँ ।" कहकर खाली कलसिया नीचे रखकर मणी ने उस स्त्री को मटका उठाने में मदद दी और कलसिया ऊपर रखकर विदा किया । दो आती हुई पनिहारिनों की दूरी का अन्दाज़ करके वह बोली—"क्यों कानदा, कैसे आना हुआ ?"

"मुझे जीवी से खास तौर से मिलना है । चाहे तो चारे का बहाना करके ही उस झरने वाले महुए के पास मुझसे मिल ले । भूले नहीं । भले ही रात हो जाय, पर मुझसे बिना मिले न जाय ।"

"इस बात से तुम निश्चिन्त रहो । मिल गई तो मैं उसे अभी भेजती हूँ ।" चुटकी लेने की वृत्ति को अलग रखते हुए मणी ने कहा । दूसरी पनिहारिनें भी अब कुए के नज़दीक आ चुकी थीं । मणी ने यात्री को पानी पिलाया और यात्री ने 'एक कलसिया के लिए तुम्हें पूरा घड़ा खींचना पड़ेगा' कहकर कृतज्ञता प्रकट की । पिछौरा से हाथ पोंछकर लाठी सँभाली और बोला—"अच्छा चलूँ बहन !"

आ पहुँची हुई स्त्रियों के सवाल का "कौन जाने ? कोई होगा । कुआ देखकर यहाँ पानी पीने आया होगा ।" इन शब्दों में जवाब देती

१. उठाकर सिर पर रख दूँ ।

हुई मणी ने जेहर सिर पर रखी और कानजी की पीठ की ओर एक नजर डालकर चलती बनी।

कानजी का बताया हुआ महुआ पाणपुर जाने वाले रास्ते में ही आता था। महुए के एक ओर चौमासे के कारण उपयोग में न आने वाला दगड़ा[1] था जब कि दूसरी ओर झरने का खाई-जैसा गड्ढा था और गड्ढे की बगल में ही थूहड़ की घनी बाड़ थी। कानजी कुछ देर तक महुए की जड़ के पास खड़ा रहा। इधर-उधर दृष्टि डालकर गड्ढे की तरफ के ढाल पर पिछौरे का तकिया बनाकर घास में ही आड़ा लेट गया। पैर-पर-पैर रखकर पिछली भेंट के संस्मरण याद करने लगा। उस दिन के अपने उद्धत व्यवहार की याद आते ही आज भी उसे अपने ऊपर बड़ा क्रोध आया। डर भी लगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि नाराज हो गई हो। लेकिन उसका हृदय इस बात से जैसे सिर हिलाकर इन्कार कर रहा था—'नहीं-नहीं, और कोई भले ही नाराज हो जाय, पर यह पूतरी (जीवी) कभी नाराज न होगी।' जीवी की मूर्ति उसकी आँखों के आगे नाच रही थी।

उसे आये अभी बहुत देर नहीं हुई थी, फिर भी लगता था जैसे काफी समय हो गया हो। एक-दो बार तो उसने उठकर देख भी लिया। परन्तु तीसरी बार उसकी तरसती आँखों को शान्ति मिली। जीवी कन्धे पर रस्सी और हाथ में हँसिया लिये चली आ रही थी।

एक-दूसरे की आँखें मिलीं। दोनों चहरे हास्य से खिल उठे। कानजी नीचे उतरने लगा। रास्ते के किनारे चढ़ती जीवी ने कहा—"क्यों उतरे जा रहे हो? यहीं बैठो न? कोई देख लेगा और कुछ कहेगा तो मुझसे कहेगा, तुम क्यों डरते हो?" कहकर महुए की जड़ के पास आई और आस-पास निगाह डालकर बोली—"यहाँ तो किसी की छाया भी नहीं आयगी।"

फिर दोनों की नजरें मिलीं। दोनों जने हँसे; लेकिन इस बार की

१. बैलगाड़ी का रास्ता।

हँसी में दर्द की झलक दिखाई दे रही थी। "अच्छा, बैठो!" कहकर जीवी ने घास पर रस्सी रखते हुए आँख के इशारे से कानजी को बैठने के लिए कहा और स्वयं महुए के तने का सहारा लेकर खड़ी हो गई।

"लेकिन मुझे तुझसे एक बात पूछनी है। यहाँ बैठूँगा तो मैं खुलकर बात न कर सकूँगा।" कानजी ने कुछ विवशता से कहा।

"तो चलो मेरे खेत में!" कहकर रस्सी उठाते हुए जीवी आगे बोली—"वहाँ चलकर चारा नहीं काटोगे तो कम-से-कम बोझ तो उठवा दोगे।" फिर हाथ बढ़ाकर रस्सा दिखाया—"इस थूहड़ की बाड़ के सहारे-सहारे जहाँ आम का पेड़ आ जाय, वहीं खेत में आ जाना! इतने में मैं उधर होकर आती हूँ।" कहकर पीठ फेरी और दो-तीन डग भरकर फिर बोली—"देखना, कहीं गुस्सा होकर घर न चल देना! नहीं तो रात होने को मैं वीरान में कहाँ खोजती फिरूँगी?"

"अगर ऐसी ही बात है तो मैं घर की ओर ही चलूँ!" पिछौरा लेकर पीछे मुड़ते हुए कानजी ने कहा।

"तुम तो चले ही जाओ!" कहकर जीवी ने पीछे को गरदन मोड़ी और कतराती नज़रों से कानजी को देखा। और "देखें, पहले कौन आता है" कहकर हँसती हुई पीठ फेरकर चल दी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों में से पहले जीवी ही आई थी। कानजी और जीवी खेत की मेंड़ के पास वाले आम के नीचे बैठे थे। क्षितिज के निकट पहुँचे हुए सूर्य का पिंगल प्रकाश मक्का के ऊपरी हिस्से से छनकर आ रहा था।

जीवी आराम से ऐसी बैठी थी जैसे लिपे हुए में बैठी हो। घुटनों को घेरे हुए हाथों की उँगलियाँ एक-दूसरे में फँसी थीं। फरिया का किनारा आधे सिर पर जाकर रुक गया था। कान में लटकता सोने की लौंग का रुपहला झेला[1] उसकी मुखाकृति को कुछ और ही सुन्दरता दे रहा था। आँखों में नाचती मस्ती की छाप मुख पर झलक रही थी।

१. एक आभूषण।

एक-दूसरे की ओर देखकर आँखों द्वारा बातें करने के बाद जीवी ने हँसकर पूछा—"उस दिन की भाँति आज भी रास्ता भूल गए क्या ?"

पैर फैलाकर दाएँ हाथ का सहारा लेते हुए कानजी ने कहा—"रास्ता भूलकर आया हूँ या जान-बूझकर, यह तो मैं भी ठीक से नहीं जानता, पर···" कहकर जीवी को दर्दभरी नज़र से देखा और हँसने की कोशिश करता हुआ बोला—"यह मुँह देखने आया हूँ, यह बिलकुल सच है।"

"यह तो अच्छा है कि दिन-भर का रास्ता है, इसलिए मुँह देखने चले आते हो; लेकिन कल अगर मैं किसी दूर के गाँव में चली गई तो क्या करोगे ?"

हाथ में ली हुई लकड़ी से ज़मीन कुरेदता हुआ कानजी जैसे किसी विचार में हो, ऐसे कुछ देर बाद लम्बी साँस लेकर बोला—"इसीलिए तो आया हूँ।"

"मतलब यह कि मैं कहीं दूर जाऊँ, इससे पहले ही अघाकर मुँह देख लेना चाहते हो या···" तुरन्त बात बदली—"साफ कहो तभी कुछ समझ में भी आये न ?"

"साफ कहने तो आया ही हूँ। लेकिन इससे पहले तू वचन दे, तो कहूँ ?"

कानजी को मारक दृष्टि से देखते हुए जीवी ने पूछा—"किसका ?"

"जो-कुछ मैं कहूँ उसे मानने का।" कानजी नीची नज़र किये हुए कह रहा था।

"वचन न देने पर भी आज तक किसी बात के लिए मना तो किया नहीं है। क्या तुम्हें इतना विश्वास भी नहीं है ?"

"विश्वास न होता तो इतनी दूर चलकर क्यों आता ? लेकिन यदि तू वचन दे दे तो मेरे जी को थोड़ा-बहुत ढाढ़स हो जाय।"

"और यदि मैं वचन देकर मुकर जाऊँ तो तुम क्या करोगे ?" कहकर जीवी हँसी।

कानजी ने पैर सिकोड़े। जैसे जीवी को आघात सहने के लिए तैयार कर रहा हो, ऐसे सँभलकर कहा—"यह कोई हँसी में उड़ा देने की बात नहीं है जीवी!"

"लेकिन जो हो सो कह डालो न! वचन दूँ या न दूँ तो भी तुम्हारा कहा किये बिना क्या कहीं छुटकारा हो सकता है?" कहती हुई जीवी की मुख-मुद्रा तो पहले ही जैसी हँसमुख थी, पर उसकी आँखों की उत्सुकता कुछ बढ़ गई थी।

जैसे गोली छोड़ने की तैयारी करते हुए अन्तिम चेतावनी दे रहा हो, ऐसे कानजी फिर बोला—"देखना, कहीं पीछे मुकर न जाना! अब भी यदि तू 'ना' कहती हो तो रहने दूँ।"

कानजी की इस बातचीत के दरम्यान जीवी-जैसी प्रियतमा ने क्या-क्या धारणाएँ न बनाई थीं। 'मुझे ले जाने के लिए ही आया लगता है।' या फिर 'मुझे लेकर परदेस भाग जाने की सोची होगी। कोई घृणित प्रस्ताव तो नहीं करेगा।' आदि-आदि। परन्तु इस प्रकार की धारणाओं से धड़कता हुआ जीवी का हृदय कानजी के अन्तिम शब्दों और उसके विवर्ण चहरे को देखते ही धक्-से रह गया। गुस्से से बोली—"कहना हो तो कह डालो! मानने-न-मानने की तुम्हें और मुझे दोनों को ख़बर तो पड़े।"

"मैं तेरी सगाई लेकर आया हूँ।" कहकर आँखों को जमीन पर गड़ाए रहकर कानजी ने जवाब के लिए कान लगाये।

जीवी का जी जैसे बैठा जा रहा हो ऐसे "अपनी सगाई कहीं कोई अपने-आप करता होगा?" कहकर वह मन्द-मन्द मुस्कराने लगी।

कानजी के मुँह का द्वार बन्द करने के लिए जीवी का यह वाक्य ही काफी था। जीवी की शक्ल देखी होती तो शायद बोल भी न पाता। "मैं अपनी सगाई की बात करने नहीं आया, बल्कि मैं तो··· अपने गाँव के धूलिया नाई की सगाई करने आया हूँ।" कहकर कानजी ने वाक्य तो पूरा कर दिया, पर उसके बाद न तो वह आँखें

ऊपर उठा सका, और न निकले हुए शब्दों को वापस ले सका। "तो धूलिया के लिए बिचौलिया बनकर आये हो।" ऐसा कुछ सुनाई दिया, पर यह जीवी कह रही है, इसका विश्वास नहीं हुआ। बाद में तो उसे यह भ्रम भी हुआ कि कदाचित् यह उसीने कहा हो। कानजी ने ऊपर देखा। 'नहीं-नहीं जीवी, मैंने कहने में भूल की, यह सब झूठ है।' ऐसा कहने को उसने मुँह खोलने का प्रयत्न किया, पर उससे पहले ही एक हाथ का सहारा लेकर उलटे पैर करके बैठी हुई जीवी ने दूसरे हाथ से घास तोड़ते हुए कहा—"क्या मेरे माँ-बाप से पूछ लिया है?"

कानजी को फिर हिम्मत आई। कहा—"धूलिया की माँ कहती थी कि बूढ़े की तो मरजी है, पर तेरा और तेरी सौतेली माँ का मन नहीं-सा है?"

धीरे से, पर गहरी साँस लेते हुए जीवी बोली—"मेरा मन नहीं है, यह जानते हुए भी तुमने सगाई लेकर आने की खूब हिम्मत की!"

कानजी ने खुशामदाना हँसी हँसते हुए कहा—"लेकिन मुझे यह विश्वास था कि तू 'ना' नहीं करेगी। इसीलिए तो यह काम मैंने अपने जिम्मे लिया, नहीं तो कभी····"

"जो-कुछ तुमने किया सो अच्छा किया!" इन शब्दों के साथ ही जीवी ने आह भरकर कहा—"लेकिन अब इसे करोगे कैसे? पूछने जाओगे तो मेरा बाप तो मान जायगा, पर मेरी माँ हरगिज़ न मानेगी।" अब भी वह दूसरी ओर ही देख रही थी।

कानजी ने जीवी की ओर देखते हुए कहा—"यह सब तो अब तेरे हाथ की बात है।" और जीवी को चुप देखकर बोला—"तू कहे तो हम दो-चार जने धनतेरस की शाम को आवें और उस महुए के पास खड़े रहें।"

"अच्छी बात है।" कहकर जीवी चुप हो गई।

कानजी को इससे अधिक और क्या कहना था। जो-कुछ कहा था

वही इतना ज्यादा जान पड़ता था कि उसे स्वयं भी अपना व्यक्तित्व अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत हो रहा था। पहले का प्रेम, त्याग या गौरव, विरह-वेदना या वैराग्य इनमें भी कोई वस्तु उसमें नहीं रह गई थी। जीवी के पास बहुत देर तक बैठना भी अब उसे मुश्किल हो रहा था। वह मन में सोच रहा था—"यह अभी कुछ बहाना बनाकर मना कर देगी। पूछा—"तो फिर क्या विचार है?"

"विचार करने-जैसा अब है ही क्या?" कहती हुई जीवी सचेत हुई और कानजी की ओर देखी हुई, जैसे कानजी द्वारा रटाई हुई बात को ही दुहराती रही हो, ऐसे बोली—धनतेरस की शाम को मुझे उस रास्ते वाले महुए के पास आना है!"

कानजी चाहता था कि कह दे 'जो तेरा मन दुखी होता हो तो रहने दे!' पर जीवी की शक्ल देखकर उससे कुछ न कहा गया। यह कहना भी अब सिर काटकर जोड़ने-जैसा लगता था। फिर भी यदि बैठने को मिला होता तो कुछ कहता। लेकिन इतने में ही जीवी ने पास पड़ी रस्सी और हँसिये को अपनी ओर खींच लिया।

"तो मैं चलता हूँ।" कहकर कानजी खड़ा हुआ।

रस्सी की गही[1] करती हुई जीवी बोली—"फिर आना!"

"तो धनतेरस को पक्की रही न?" कानजी ने फिर पूछा।

कानजी की ओर देखती हुई जीवी की नज़र जैसे कह रही हो—'इस आदमी को अब भी विश्वास नहीं होता।' और बोली—"पक्की; और अगर दो धनतेरस हों तो पहली की।" यह कहकर वह खड़ी हुई और आगे कहा—"मैं शाम होते ही महुए के पास आ बैठूँगी। तुम्हें जब आना हो तब आना। जाओ!" कहकर पीठ फेरी और मक्का में खो गई।

कानजी भी घर की ओर चलने लगा।

छेड़ी हुई कुमारी के रक्तवर्ण मुख-जैसा सूर्य भी क्षितिज के नीचे उतर गया।

१. तह करना।

छठा प्रकरण

●

दूसरे को सौंप दिया

कानजी जीवी से पक्की तो कर आया, पर पीछे से उसका जी कच्चा गया—'नहीं-नहीं, मैं जाकर उससे मना ही कर आऊँगा। यह तो मूरख ही है न? उसे अच्छा नहीं लगता था तो मना क्यों नहीं कर दिया? यह भी क्या कोई खेल है? यह तो जनम-भर का गठबन्धन है।' फिर उसका अपना ही जी उसे धिक्कार रहा था—'इतना ही ज्यादा सयानापन था तो उसी वक्त—चलते वक्त ही मना करके आना था। उस वक्त कह दिया होता कि मैं तो सिर्फ तेरी परीक्षा लेने आया था, तो अब यह दुबारा जाने की इल्लत तो न रहती।'

लेकिन सच पूछो तो अब उसे जीवी से मना करके आने की हिम्मत न होती थी। दूसरी ओर ऐसा भी होता—'नहीं-नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे अच्छा नहीं लगता। और यदि ऐसा होता भी तो जिसने बूढ़े बाप के मुँह पर मना कर दिया उसे मेरे आगे मना करने में क्या देर लगती। उस पर मेरा कोई अधिकार थोड़े ही था। यह तो राह चलते का प्रेम है। लेकिन यह तो उसे भी अच्छा लगता होगा न? माँ-बाप से छिपकर आने की बात ही जरा खटकती है। नहीं तो वह उलटी खुश ही हुई होगी। सौतेली माँ के शिकंजे से छूटेगी, सो अलग।

वह उसे पसन्द ही न आया होगा न ? और कौन जानता है कि उसकी अपेक्षा यह धूलिया वाला अधिक अच्छा न होगा। बार-बार जाने से लोगों को पता चल जायगा तो बेचारी बीस बिसे आने का बिचार होने पर भी रह जायगी। और जनम-भर के लिए कलंक लगेगा सो अलग।' इस प्रकार विचार करके उसने निश्चय किया—'उसे न आना होगा तो धनतेरस के दिन ही न आयगी। इसीसे पता चल जायगा कि उसे *नहीं रुचता। एक चक्कर लगाना पड़ेगा, यही न ?*'

और इन सब विचारों के अन्त में उसने हीरा से इस प्रकार बात करने का निश्चय किया जिससे कि अब तक की बात गोल-मोल रहे।

"लेकिन तू कर क्या आया ?" हीरा के इस तीसरी बार किये गए सवाल का जवाब देता हुआ वह बोला—"तू पूछ-पूछकर मुझे चिढ़ा रहा है, पर अभी बात पक्की नहीं हुई हीरा !"

"लेकिन अपनी कच्ची बात ही बता ! मना किया हो तो वैसा कह ! आज से उसकी चर्चा ही छोड़ें। वह धूलिया तो मेरी जान खा गया है।"

कानजी को इसका पूरा-पूरा भरोसा था कि जीवी आयगी; तो भी वह अपने गोल-मोल बात करने के विचार को जैसे भूल न गया हो ऐसे उदास भाव से बोला—"हीरा ! जीवी के मुँह में कपड़ा ठूँसकर यहाँ लाने को तैयार तो हुए हैं, पर···"

हीरा बीच ही में बोला—"मुँह में कपड़ा ठूँसकर कैसे ? क्या जबरदस्ती लानी है !" और आँखें फाड़कर कानजी की ओर देखने लगा।

"जबरदस्ती-जैसी तो है ही ! मैंने कहा इसलिए वह कुछ कहने लायक तो रही नहीं—वचन माँग लिया। यह मुँह में कपड़ा ठूँसने-जैसा तो है ही।" कहकर कानजी होठ चबाने लगा।

"लेकिन उसने आने की हामी तो भरी है न ?" हीरा ने तनिक

प्रसन्न होते हुए कहा।

"हामी भी भरी है और धनतेरस की शाम को उस महुए के नीचे आने की पक्की भी कर दी है। लेकिन···"

"तो फिर क्या परवाह है ? लेकिन इतने दिन से बात बताने में क्या तेरा कुछ घटा जाता था ? वह बेचारा धूलिया पेट भरकर खाता तो सही। तू भी अजीब है कानजी !" कहकर हीरा कानजी की ओर देखता हुआ मुस्कराने लगा। कानजी को चुप देखकर वह फिर बोला—"परसों ही जाना है तब तो ? आज ग्यारस हो गई। दिन छिपे ही चलेंगे न ?"

यह 'परसों' शब्द जैसे कानजी के हृदय में जाकर लगा। आज तक अपनी जान पड़ती जीवी परसों पराई हो जायगी; और वह भी जनम-भर के लिए। उसकी ओर देखने तक का अधिकार न रहेगा। क्षण-भर के लिए तो उसने सोचा—'मैं ही उसे घर में डाल लूँ तो ? इसमें बुरा ही क्या है ?' और जैसे अपने इस मूर्खतापूर्ण विचार पर ही हँस रहा हो ऐसे एक भारी साँस लेकर हँसा और बोला—"धनतेरस को जाने का तो पक्का ही है।" और इस डर से कि कहीं ज्यादा बात न निकल जाय। हीरा से अलग होते हुए कहा—"कब चलेंगे, यह कल निश्चय करना है।"

फसल काटने का काम पूरे जोर से चल रहा था। विचारों में डूबा हुआ कानजी मक्का की खड़ी फ़सल को देखते-देखते ऐसे आड़े गिराये दे रहा था जैसे अफ़ीम खाकर काम में जुटा हो।

लेकिन दोपहर को खाने के लिए आया हुआ कंसार[1] कानजी के गले नहीं उतर रहा था। खाने का बहाना-सा करके हुक्का भरा और कुछ सोचने लगा। धुएँ के साथ आह भरकर बड़े भाई को हुक्का देते हुए कहा—"तब तो आज रात को तुम यहीं सो रहना बड़े भाई !"

बड़े भाई के बैठने का ढंग अलग ही था। जहाँ बैठते वहाँ पिछौरा

१. गेहूँ का मीठा दलिया, जिसमें ऊपर से घी डाला जाता है।

या फिर धोती कमर और पैर की पिंडलियों के चारों ओर लपेटकर आरामकुर्सी बनाकर ही बैठते। आज भी ऐसे ही बैठे थे। हुक्का हाथ में लेते हुए पूछा—"तू क्या कहीं हुडा[1] गाने जायगा?"

"हाँ।" आज शायद पहली बार ही कानजी बड़े भाई के सामने झूठ बोल रहा था।

"अच्छी बात है। लेकिन उस खेत में कुछ डर-जैसा···लेकिन यह तो मोंछा से कह दूँगा; रात को एकाध चक्कर मार आयगा। और तू भी कोई सारी रात तो हुडा गायगा नहीं। जब आवे तब एकाध चक्कर उधर मारते आना! देखना, कहीं पूरी रात मत लगा देना! काम की ऐसी भीड़ है, जागरन करोगे तो बीमार पड़ जाओगे!"

"नहीं रे, यह तो आज धन तेरस है इसीलिए!" कहकर या तो इसलिए कि इस असत्य को बहुत देर तक लम्बाने की इच्छा न हो, या अन्य किसी कारण से कानजी पूरा हुक्का पीने भी न बैठा।

"बैठ, पूरा हुक्का तो पी! काम तो जनम-भर का है।" कहते हुए बड़े भाई ने खड़े होते कानजी के आगे हुक्का रख दिया।

इतने में ही सामने वाले खेत से हीरा आ गया। हुक्का पीकर वह भी कानजी के पीछे चला। कुछ पूछने के लिए आया हुआ-सा जानकर कानजी ने बिना पूछे ही कहा—"कुछ देर बाद मुझसे मिलना, अच्छा!"

दिन छिपने में थोड़ी देर थी। हीरा और कानजी दोनों इकट्ठे हुए। हीरा ने पूछा—"हम दो ही जने जायँगे न?"

"उस नाई वाले को भी चलने दो साथ। रोटी खानी हैं तो उसे खानी हैं, हम अकेले जान जोखम में क्यों डालें।"

"लेकिन उसे साथ लेने में तो उलटी जान की जोखम और ज्यादा है।"

"इसकी कोई परवाह नहीं। लेकिन सोच तो सही कि अगर पकड़े

१. दिवाली के दिनों में गाए जाने वाले गीत।

गए तो ? वह तो साथ चाहिए ही।"

हीरा को भी यह ठीक जँचा। तो ले, मैं उसे ख़बर किये देता हूँ।"

"और हाँ, देख एक काम कर, मेरे घर से तलवार ले जाकर अपने घर रख आ ! मैं लेकर निकलूँगा तो घर में सन्देह हो जायगा और बड़े भाई को मालूम पड़ जायगा तो फजीता होगा।"

"अच्छी बात है।" कहकर हीरा गाँव की ओर चला गया।

डूबते हुए सूरज की ओर देखता हुआ कानजी काम को बीच में ही छोड़कर मचान पर बैठा था। बड़ी देर तक ऐसे ही बैठा रहा। घिरते अँधेरे पर नज़र पड़ते ही—'मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता भगवान् ! कौन कह सकता है कि मैं जो यह कह रहा हूँ सो ठीक है या ग़लत।' इस प्रकार सोचता हुआ वह खड़ा हुआ और बड़बड़ाया—'जैसा तू कराता है वैसा ही मैं करता हूँ।' इस समय कानजी बिलकुल लाचार बन गया था। मस्तिष्क में घूमते हज़ारों विचारों ने उसे घबरा दिया था। उसे कुछ सूझता न था।

गाँव के नाके पर ही हीरा से भेंट हुई। अच्छा, अब कितनी देर है ? अभी तो तूने खाना भी नहीं खाया। अँधेरी रात में आठ कोस....."

"तुम दो जने तो चलो ! लड़आ आम[1] के पास ठहरना ! मैं यह आया। खाने की कोई इच्छा नहीं, इसलिए बहुत देर न लगेगी। साफ़ा तो यही चल जाता, पर जूतों के बिना नहीं चल सकता।"

अलग होते हुए फिर कहा—"तुम चलो, मैं आता हूँ !"

घर जाकर सिर से फटा हुआ साफ़ा उतारा। इधर-उधर से देखकर 'चलेगा'-जैसा कुछ बड़बड़ाकर दूसरे हाथ पर थोड़ा-सा झाड़ा और फिर लपेट लिया। किवाड़ के पीछे पड़े जोड़े को निकालकर पहन लिया और "मैं खाऊँगा नहीं भाभी !" कहकर चल दिया भगतजी के घर की ओर।

१. आम का ऐसा पेड़, जिसके फल लड्डू-जैसे गोल हों।

भगतजी अभी-अभी खेत से आये थे। आँगन में पड़ी खाट को बिछाकर, साफे का तकिया बनाए. पैर-पर-पैर चढ़ाये, आकाश की ओर देखते लेटे थे। चौसेरी जोड़े से 'खड़ग्-खड़ग्' आवाज करते हुए आने वाले कानजी को सामने देखा, एक ओर खिसककर जगह की। कानजी को खड़ा देखकर कहा—"बैठ जा न !"

"कितनी देर के लिए ?" कहता हुआ कानजी बैठ गया। इधर-उधर नज़र डालने के बाद बोला—"मैं तो तुम्हारा आशीर्वाद लेने के लिए आया हूँ।"

"किस बात का ?" कहकर भगतजी कानजी के उतरे हुए मुँह की ओर देखने लगे।

"हीरा ने तुमसे कहा तो होगा।" कहकर नीरस हँसी हँसते हुए आगे बोला—"तुम्हारे इस पड़ौसी के लिए औरत लेने जा रहे हैं।" भगतजी को चुप होते देखकर कानजी ने पूछा—"चुप कैसे हो गए भगतजी ! क्या तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता ?"

"क्या पागल हो गया है। मुझे क्या है, जो अच्छा न लगेगा ?"

"तब लो आशीर्वाद दो तो मैं उठूँ !" कहकर कानजी सावधान हो गया। भगतजी को कुछ मुस्कराते देखकर पूछा—"क्यों दोगे न ?" न जाने क्यों आज कानजी को कुछ भय लग रहा था। किसका ? यह तो खुद वह भी नहीं जानता था। इसीलिए तो वह और भी घबरा रहा था।

"लेकिन भले आदमी ! अच्छे काम में आशीर्वाद की आवश्यकता ही क्या है ? और बुरे काम के लिए तो जानता है कि कोई आशीर्वाद देगा ही नहीं।"

कानजी का मुँह उतर गया—"तुम्हें कैसा लगता है भगतजी !" वह खुद भी नहीं जानता था कि वह अच्छा कर रहा है या बुरा !

"इसमें ऐसा क्या है, जो मुझे बुरा लगेगा कानजी !" कहते हुए भगतजी बैठे हो गए। कानजी के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले—"जाओ, फतह करो !" आनगाँव की बात है यह ध्यान रखना, और होशियारी से

काम करना। और यदि किसी को जरा भी सन्देह हो तो तुरन्त वापस लौट आना। अच्छा तो अब उठ, देर मत कर!" कहकर भगतजी भी खड़े हो गए। कुछ दूर तक कानजी के साथ गये। विदाई देते हुए हिम्मत बँधाई—"गरीब का घर बसाने के बराबर कोई पुण्य नहीं है कानजी! उसमें तो भगवान् भी सहायता के लिए आयेंगे। इसलिए कोई चिन्ता नकरना!"

"ठीक है भगतजी! यह तो हमने कोशिश भर की है। सामने वाले की तकदीर थी कि काम बन गया, नहीं तो हम उसमें क्या कर सकते थे? और अब भी हो जाय तब समझना कि हो गया।" कहकर कानजी "अच्छा तो जाता हूँ" कहता हुआ चल दिया।

अँधेरे में खड़े भगतजी कितनी ही देर तक कानजी की पीठ की ओर देखते रहे। अब तक उनकी समझ में यह तो आ गया था कि जीवी से कानजी का दिल मिल गया है लेकिन आज कानजी को देखकर जैसे इससे भी कुछ अधिक समझ में आ गया हो ऐसे लौटते हुए बड़बड़ाये—"सब मायाएँ देखी हैं भगवान्! पर इस औरत की माया तो कुछ अजीब ही है।"

भगतजी से अलग होकर कानजी थोड़ी देर में ही निर्दिष्ट स्थान पर आ पहुँचा। सिर से साफा उतारते हुए धूला की ओर देखकर बोला—"अभी दूल्हा बनने में देर है धूला भाई! अभी तो होली में कूदने निकले हो। यह साफे का छोर जरा ठोड़ी से लपेट लो!" कहकर स्वयं भी ढाटा बाँधने लगा। धोती की काँछ अच्छी तरह मारते हुए हीरा से पूछा—"मेरी तलवार लाया है न?"

ढाटा बाँधते हुए धूला बोल उठा—"यह रही।" और कन्धे से तलवार उतारते हुए आगे कहा—"यह तो भाई, तुम्हारे ही हाथ में शोभा देती है। हमारे लिए तो यह लाठी ही ठीक है।"

"लाठी चलाना न आवे तो कोई बात नहीं, पर सँभालना तो आना ही चाहिए।"

हीरा बोल उठा—"हाँ भाई, नहीं तो कहीं ऐसा न हो, कि तेरी

लाठी से तेरा, और साथ ही हमारा भी कचूमर निकल जाय।"

"मुहूर्त के समय ही ऐसा अपशकुन क्यों करते हो?" कहकर धूला ने जमीन पर पड़ी लाठी सँभाली। "माकड़िया हनुमान[1]-जैसा अपना रक्षक है।" कहकर उत्तर दिशा में स्थित हनुमान की ओर मुँह किया। लाठी को दोनों हाथों के बीच में रखकर ही हाथ जोड़े। बड़बड़ाया—"हे मेरे मालिक! अगर काम बनाकर राजी-खुशी लौट आऊँगा तो पाँच नारियलों का तोरण बधाऊँगा और तेरे थान पर पाँच ब्राह्मण जिमाऊँगा।"

"और हमें नहीं क्या?" कानजी ने आगे बढ़कर कहा।

"तुम्हें क्या नहीं?" धूला ने आगे कहा—"तुम्हें तो जन्म-जन्मान्तर तक जिमाऊँ तो भी कम है।"

हीरा बोला— "जन्म-जन्मान्तर तक तो तू जिमा चुका। हाँ लड्डू की जगह दूध में भिड़ी उसके हाथ की रोटी ही एक बार खिला देगा तो बहुत है; क्यों कान जी?"

"बस-बस, इतना ही बहुत है।" कानजी भी बोल पड़ा।

"यह तो उसके ले आने के बाद की बात है।" कहकर धूला भंगड़ी की भाँति प्रलाप करने लगा—"अरे हीरा भाई, तू क्या बात करता है। एक बार तू मुझे घर-बार वाला बना दे, फिर देख मजा! रोज की चाय पिलाई जाती है कि नहीं? अरे दोस्त, घर का काम छुड़वाकर भी तेरे-जैसों के खेत में काम करने भेजूँगा। यह अहसान क्या कोई भूलने लायक है? और कोई दूसरा भले ही भूल जाय पर यह धूलिया—यह तो सबसे अलग ढंग का आदमी है, समझे?"

कानजी को धूला की यह चापलूसी तनिक भी अच्छी नहीं लगती थी। "अच्छा तो अब चुप रह; रात के वक्त कोई सुन लेगा।" कहकर उसे चुप कर दिया। तीनों जने चुपचाप ही चल रहे थे।

तारों से भरा आकाश मन्द-मन्द मुस्कराता-सा जान पड़ता था, जब कि पृथ्वी 'सिर पर इतने दिये जगमगा रहे हैं फिर भी मेरे घर में

१. हनुमान को दिया गया स्थानीय नाम।

अँधेरा ?'-जैसा मौन प्रश्न पूछती हुई विचार-मग्न-सी दीखती थी। लम्बे डग भरते कानजी और हीरा के मोची की सिलाई वाले जूते 'चर्र-मर्र' कर रहे थे; जब कि गाँव के चमार के बनाए धूला के फटे हुए जूतों का तला 'फटाक-फटाक' कर रहा था। कानजी तो सिर झुकाए ऐसे चल रहा था जैसे किसी धुन में हो; पर हीरा का ध्यान धूला के जूतों ने ही खींचा होगा। पूछा—"चलता है कि नहीं धूला ?"

"हाँ-हाँ, तुम चलो !" कहते हुए धूला ने अपने और हीरा के बीच पड़े आठ-दस कदम के फासले को झट-से दौड़कर पार कर लिया।

कानजी ने मन में सोचा—'आज तो यदि आठ के बदले अस्सी कोस की बात हो तो भी क्या धूला 'ना' कहेगा ?'

इसके बाद फिर निस्तब्धता छा गई। पैरों के जूते मानो कह रहे थे—'एक-दो-तीन, एक दो तीन।'

बच्चों वाले घर में तो अभी घर का काम भी न निबटा होगा कि वे लोग उस महुए के पास आ खड़े हुए। कुछ देर बाद कानजी को लगा कि इस स्थान का निश्चय करने में उसने बड़ी भूल की है। यदि दोनों नाकों को घेर लिया गया तो बच निकलना मुश्किल हो जायगा। आज उसे अपने चारों ओर भय-ही-भय दिखाई देता था। हीरा का भी ध्यान गया। बाड़ पर सब तरफ नज़र डालकर बोला—"मैं अभी आता हूँ। उस बाड़ पर पीपल है। देखता हूँ, यदि उस पर चढ़ा-उतरा जा सकता हो तो। नहीं तो अन्त में इस थूहड़ के गढ़ को काटकर निकल भागने को जगह तो कर ही लेनी होगी।"

"हाँ-हाँ, भाई, सावधानी अच्छी।" धूला बोल उठा।

कानजी दो-दो आदमियों के जितनी ऊँची थूहड़ के बीच खड़े पीपल के पास गया। एक आदमी की ऊँचाई पर जाकर दो भागों में बँटे और फिर मुड़कर एक तना हुए पीपल को बारीकी से देखने के बाद कानजी ने तलवार निकाली। तने के आगे से थूहड़ के डण्डे काटकर रास्ता साफ किया और पीछे मुड़कर हीरा से कहा—"अब कोई परवाह नहीं। पीपल

का तना ही ऐसा है कि इसमें से आसानी से आर-पार निकला जा सकता है। तने के आगे के डण्डे भी काट डाले हैं।"

"अच्छा!" कहते हुए हीरा के बीच में धूला बोल उठा—"यह अच्छा किया काना भाई! सावधान रहने में ही....." पर हीरा ने उसे कोहनी मारकर बोलने से रोक दिया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे कानजी की अकुलाहट बढ़ती गई। कान लगाये बैठा था; पर आज तो उसे अपने कानों का भी पता न था।

कभी किसी आदमी का बोल, तो कभी पैरों की आहट भी सुनाई देती थी। दिशाओं की अदला-बदली हो गई थी। उसे अपने ऊपर हँसी आई। मन में रोया—'भयभीत को सर्वत्र भय ही दिखाई देता है।' परन्तु इतने में ही हीरा बोला—"पीछे से कोई आ रहा हो, ऐसा लगता है कानजी!"

कानजी को सन्देह तो था ही। थोड़ी देर कान लगाने के बाद बोला—"उठ हीरा, इस बाड़ के उस पार निकल चलें। फिर कोई परवाह नहीं। खेतों में अरहर है इसलिए किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी।"

आवाज पास आ रही थी।

पीपल के पास पहुँचते ही कानजी ने धूला से कहा—"इस छेंड़ी[1] में होकर उस पार निकल जा!"

"मैं.....? पहले तुममें से.....।"

"मर रौंड के!" कहकर कानजी ने तने से लटककर अपने को ऊँचा उठाया। साँप की भाँति आर-पार निकल गया और आहिस्ता से उस ओर कूद गया। तलवार निकालकर उस ओर के भी डण्डे साफ करता हुआ बोला—"हीरा चल, उस धूलिया को भी चढ़ा दे!"

धूला को भी लगता था कि अब तो खुद निकलने में ही मज़ा है।

१. किसी घनी झाड़ी या बाड़ को काटकर आदमी के आने-जाने लायक बनाई गई जगह को 'छेंड़ी' कहते हैं।

हीरा ने सहारा देकर छेंड़ी तक पहुँचाने में मदद की। धूला का सिर तो उस ओर निकल चुका था, पर कन्धे फँस गए थे। वह घबराया। उसने यह सोचकर कि निकला नहीं जायगा, कोशिश करने में भी कुछ कमी कर दी।

आदमियों की आवाज और भी पास आती जा रही थी। हीरा ने कहा—"अरे, ज़ोर लगाकर निकल जा! यही न कि जरा छिल जायगा। लेकिन ऐसे तो तू हमारी भी आफत बुलायगा। ले, मैं धकेलता हूँ। एक के बदले सबको मारेंगे। जरा जोर लगा।"

धूला का शरीर पसीना-पसीना हो गया था। बोला—"लेकिन भाई साहब! उँह! नहीं···।"

हीरा को गुस्सा आया—"अरे, जरा जी कड़ा करके; नहीं तो तेरे काका ये आये!"

"लेकिन माई-बाप····!"

"इन दोनों जनों की बक-झक सुनते हुए कानजी की आँखें इस घनघोर अँधेरे में भी तारे-जैसी चमक उठीं। उसने देखा कि आने वाले आदमी झरने के किनारे लगभग चढ़ चुके हैं। घड़ी-आध घड़ी में तो यहाँ आ पहुँचेंगे। उसे धूलिया पर बेहद गुस्सा आया—"औरत करने आया है यह!" बड़बड़ाते हुए वह आगे बढ़ा, "निकलता है कि नहीं!" कहकर धूला के पास आते-आते तो कन्धे से तलवार उतार ली। "तो देख मजा!" कहकर सरर्र करके खींची। तानते हुए बोला—"एं··· तो····" पर उससे पहले ही, "नहीं···माई-बाप यह!" कहते हुए धूला के कन्धे फट से बाहर आ गए।

कुछ-कुछ काँपता हुआ कानजी जैसे होश में आ गया हो ऐसे सोच रहा था—'अगर यह इस प्रकार न निकला होता तो गज़ब हो जाता कि नहीं। सचमुच मैं तो इसे काट ही डालता।' उसका अंग-अंग पसीने से भीग गया था। धूला के पीछे उतरकर आने वाले हीरा का भी जैसे उसे भान न था। उसका धड़कता हुआ हृदय तो जैसे अब भी यह

कह रहा था—'गज़ब कर डालता।'

रास्ते पर आने वाले चार-पाँच आदमी कोई राहगीर-से लगे। वे जैसे आए थे, वैसे ही बातें करते हुए चले गए।

तीनों ही को एक प्रकार की शान्ति-सी मिली। धूला का कलेजा तो अभी तक 'धक्-धक्' करता धड़क रहा था। कानजी की ओर देखकर पूछा, "ओ काना भाई! सच बताना यदि मुझसे न निकला जाता तो क्या तुम मेरा सिर ही काट डालते?"

"इसे काटने में क्या कोई देर लगती? उठाई तो थी। देर तो बस चलाने भर की ही थी।" कहकर कानजी ने एक लम्बी साँस ली और कहने लगा—"बच गया जा! घर जाकर परसाद बाँटना!"

"नहीं-नहीं, सच कहो काना भाई! क्या मुझे मार ही···।"

इस सबको मजाक समझते हुए हीरा बीच में ही बोला—"क्या तू मूरख है? अभी तू चोरों की बात ही नहीं जानता। अब तो तू अकेला ही मरता; पर यदि तुझे जीता छोड़ जाते तो तेरे साथ हमारी भी मौत थी। इसलिए यदि तू न निकला होता तो तेरा सिर तो हम लेते ही जाते।"

यह सुनते ही धूला फिर काँप उठा। मन-ही-मन में कहा भी—'मौत के मुँह से बच गया।' कानजी से उसे डर तो पहले ही लगता था, पर इस समय तो वह उसे यम-जैसा लगने लगा। हीरा का भरोसा भी कम हो गया। मन को भी लगा—'मरी साली औरत! न आवे तो न सही, राजी-खुशी घर पहुँच गया तो समझूँगा कि गंगा नहा आया।'

"तुम दोनों यहीं बैठो हीरा! मैं उस पार जाकर देखता हूँ। आयगी तो बुला लूँगा।" कहकर कानजी जिस रास्ते से आया था उसीसे उस पार चला गया।

हीरा से दिल खोलकर बातें करने का मौका मिलते ही धूला ने कहा—"चाहे जो कर हीरा भाई, पर मुझसे इस छेंड़ी से वापस नहीं जाया जायगा।"

हीरा को धूला पर बेहद गुस्सा आ रहा था—'यह साला तो ऐसा

है कि किसी समय सिर ही उड़वा दे।' ऐसा ही हुआ करता था। दाँत पीसते हुए कहा—"बिना बोले, चुप रह अब!"

"लेकिन माई-बाप मुझसे···" धूला की आवाज़ बिलकुल ढीली थी।

"अरे, लेकिन तू चुप तो रह! अभी निकलने का वक्त तो आने दे।"

"तो अच्छा भाई साहब!" कहकर धूला भी चुप हो गया।

कानजी महुए के पास आकर खड़ा हो गया और ध्यानपूर्वक गाँव से आने वाले रास्ते की ओर देखने लगा। ठेठ छोर पर एक काली छाया दिखाई दी। बड़ी देर तक तो उसे यही लगता रहा जैसे वह छाया जहाँ-की-तहाँ खड़ी हो; पर अन्त में उसकी समझ में आया कि वह छाया धीमी चाल से उसी ओर आ रही है।

कानजी का दिल धड़क उठा। उसे विश्वास था कि यह जीवी ही है। बिना देखे ही उसकी सौम्य मूर्ति आँखों के आगे नाचने लगी। प्रश्न-पर-प्रश्न उठे—'आकर वह क्या कहेगी? मना तो न करेगी?' फिर लगा—'मना कर दे तो और भी अच्छा, नहीं तो मैं ही उसे वापस जाने को कहूँगा।'

उसी धीमी चाल से चलती जीवी महुए के पास आकर खड़ी हो गई। कानजी के ढाटे वाले वेश को देखकर शायद वह पहचान नहीं पाई। पूछा—"कौन है?" आवाज़ में भय का नामो-निशान तक न था।

"आ पहुँची?" कहता हुआ कानजी उसके समीप आ गया। जीवी से कुछ पूछ-गछ करने का विचार आने से पहले ही वह आगे बढ़ती और बोलती सुनाई दी—"अकेले ही हो या और भी कोई है?"

कानजी ने एक लम्बी साँस लेकर और ही बात कही—"ज़रा इधर आकर खड़ी हो जा! मैं उन दोनों को बुला लाऊँ!"

वे दोनों कौन हैं? कहाँ हैं? यह कुछ भी न पूछकर जीवी रास्ते से एक ओर हटकर खड़ी हो गई।

कानजी की पत्थर और 'चलो'-जैसी धीमी आवाज़ कान में पड़ते

ही धूला ने 'वह आई है क्या ?' जैसी स्वाभाविक बात न पूछकर कहा—"हीरा भाई ! भाई, तो मुझे किसी और जगह से···।"

"गुस्सा तो ऐसा आता है कि यहीं-का-यहीं फ़ैसला कर डालूँ।" बड़बड़ाते हुए हीरा ने बाड़ के पास आकर कहा—"तुम चले आओ, हम उस थूहड़ के पास निकलेंगे।" और बाड़ के सहारे-सहारे चलने लगा। कुछ दूर चलकर तलवार निकाली। दो-चार हाथों में ही रास्ता साफ़ किया।

बाहर निकलते हुए धूला ने कानजी के पीछे-पीछे आती छाया को देखा। जैसे कोई छोटा बालक खिलौना देखकर खुश हो उठता है, ऐसे धूला खुश हो उठा। उसका मुख, उसका रूप रंग देखने की तीव्र लालसा जाग उठी। जैसे कोई नई बात कह रहा हो ऐसे हीरा की बगल में आकर बोला—"वह तो आई है न !"

हीरा ने धूला को कड़ी नज़र से देखा। उसे दूर धकेलता हुआ बोला—"चलना हो तो यों दूर हटकर चल, चुपचाप !" धूला पर उसे इतना ज्यादा गुस्सा क्यों आ रहा है, यह तो हीरा की समझ में भी नहीं आता था।

धूला के मन में भय समा गया—'ये तीनों ही मिलकर रास्ते में मेरा काम तमाम तो नहीं कर डालेंगे ! मारकर गाड़ दें तो पता लगाने वाला भी कौन है !' और यदि पीछे से गाँव वालों का डर न होता तो इसमें भी सन्देह न था कि वह इन तीनों से काफी फासला रखकर चलता।

जीवी की चाल के हिसाब से कानजी को बिलकुल धीरे-धीरे चलना पड़ रहा था। इससे ऊब भी आती थी। कुछ रुककर जीवी से तो नहीं, पर हीरा से कहा—"अरे, ज़रा जल्दी चलो ! ऐसी चाल से कब तक रास्ता कटेगा ?"

धूला झट से "हाँ, हीरा भाई !" कहता हुआ आगे हो लिया। हीरा को तो कुछ हँसी भी आ गई।

वे दोनों जीवी से आगे तो हो गए, पर वह कोई पागल नहीं थी कि

मेड़िया[1] के ज़ोर से पीछे खिंची आवे। कानजी के लिए भी यह सम्भव नहीं था कि इस अँधेरी रात और ऐसी स्थिति में जीवी को दूर रखकर उससे आगे निकल जाय। वह मन-ही-मन खीझ रहा था—'यदि ऐसा ही था तो तुझसे किसने ज़बरदस्ती 'हाँ' कराई थी। उसी वक्त मना कर दिया होता। और अब भी क्या बिगड़ गया है ? कहे तो वापस छोड़ आऊँ।' परन्तु इस सारे गुस्से को घोलकर पीते हुए कहा—"अच्छा ज़रा कदम बढ़ा !"

"लेकिन तुम खुद चलो न, मैं अपने-आप आती हूँ पीछे-पीछे।"

"क्या तुझे छोड़कर हमसे जाया जायगा। अँधेरी रात···"

"मुझे तो मौत भी नहीं आती ?" कहकर जीवी ने कानजी की ओर देखा।

"लेकिन तू इसमें ऐसी गुस्सा क्यों होती है ?" कहकर कानजी कुछ देर रुका और आगे बोला—"ऐसा था, तो घर से निकलती ही नहीं।"

"झख मारकर निकली।" जीवी की आवाज़ और शब्दों में निहित रोष, खीझ, लाचारी और निराधारता के बावजूद उसकी दृढ़ता को तो वही समझ सकता था, जो सच्चा प्रेमी हो। कानजी सहसा रुक गया। जीवी की ओर दो कदम पीछे लौटता हुआ बोला—"सच कहता हूँ जीवी कि यदि तेरी इच्छा न हो और तू इसीलिए जा रही हो कि मैंने तुझसे कहा है, तो जा वापस लौट जा ! जैसे मैं तुझे लाया हूँ वैसे ही तेरे घर तक छोड़ आऊँगा।"

"अच्छा अब चलो चुप-चाप, सयानपन किये बिना !" कहकर जीवी ने मीठी झिड़की से भरी आँखों से कानजी को देखा। "देखो फिर" कहकर आगे कदम बढ़ाया !

कानजी ने हाथ आड़ा करते हुए कहा—"नहीं, खड़ी रह ! देख, अब भी समय है। वह जो ठिगना जाता है सो क्या तुझे पसन्द आयगा ? जो कुछ कहना हो सो साफ़-साफ़ कह दे ! बाद में यदि मुझे दोष देगी

१. मेड़िया—बैलगाड़ी में जुए में जुते दो बैलों के अतिरिक्त आगे एक अथवा दो बैल और जोत दिए जाते हैं, वे 'मेड़िया' कहे जाते हैं।

तो ठीक नहीं होगा।"

"जिस समय वचन लेने आए थे उस समय क्या तुम्हारी अकल चरने चली गई थी, जो अब यह सब पूछ रहे हो। अच्छा चलो, आगे बढ़ो!" कहकर जीवी ने कानजी को ज़रा धकेला। क्षण-भर के लिए तो कानजी को इतना ज्यादा गुस्सा आया कि जीवी को मारकर स्वयं भी मर जाय। एक निःश्वास छोड़कर होट काटता हुआ जीवी के पीछे चलने लगा।

तेरस की अँधेरी रात ऐसे बीत रही थी, जैसे पूरे यौवन पर हो। आस-पास का जंगल ऐसा स्तब्ध था, जैसे इन रात के मुसाफ़िरों की ओर शंका-भरी दृष्टि से देख रहा हो। जंगल में घूमने वाले सियार भी इन लोगों को देखकर दबे पैरों पीछे लौट जाते। पीछे आने वाले कानजी और जीवी एक बड़े पेड़ के नीचे से गुज़रे कि एक उल्लू ने 'घूऊ' की आवाज़ की। कानजी के हृदय में भय की नहीं, प्रत्युत अपशकुन की एक हल्की-सी कँपकँपी छूटी।

एक तीव्र आवेग के साथ विचार आया। वाक्य गले तक आकर रुक गया—'अच्छा चल, दाहिनी ओर मुड़ जा! भाग चलें, कहीं-न-कहीं तो पहुँच ही जायँगे।' और ये शब्द जैसे जीवी से कह दिए हों ऐसे भ्रम में पड़कर बोला—"सच कहता हूँ, समय है, अब भी लौट जा!"

"किसका?"

उसी आवेश में कानजी बोला—"किसका-किसका किये बिना लौट न यों!" कहकर जीवी को बाँह पकड़कर कुछ दाईं ओर घुमाया। स्थितिस्थापक-जैसी जीवी से विवशता-भरे स्वर में फिर कहा—"ठीक कहता हूँ, समझी! मान जा। मुझे और स्वयं अपने को क्यों धोखा देती है—क्यों कलंकी बनाती है पगली! एक बार नरक में चले गए तो फिर निकलना न हो सकेगा समझी! ठीक कहता हूँ। अब भी समय है।"

कानजी के सयानपन पर अविश्वास करती हुई जीवी क्रोध के साथ आगे बढ़ी और बोली—"चलना हो तो चुपचाप चलो, नहीं तो आओ पीछे अकेले-अकेले !"

एक बार तो कानजी हतप्रभ हो गया। लेकिन जैसे-जैसे रास्ता कटता गया वैसे-वैसे उसका सयानपन भी पीछे छूटता गया। जीवी का तेज़ी से आगे निकलना उसे अच्छा लगने लगा। चेहरा भी कुछ खिला। 'माँ-बाप का घर छोड़ना पड़े और वह भी यों चुपचाप, तो दुःख तो होगा ही। अन्यथा यदि उसे न आना होता तो क्या वह घर से निकलती ? मुझ मूरख ने उससे भाग जाने को कहा, लेकिन वह बेचारी जानती है कि इसके पीछे भाई-भौजाई का झंझट है। और वह यदि परदेस में भी पहुँच गया तो कौन-सी हुण्डी कमा लेगा।···कुत्ते की तरह भटक-भटक-कर मर जायँगे।'

इस प्रकार विचार करते-करते वह इतना सावधान हो गया था कि दो क्षण पहले उठे हुए अविचार का ध्यान आते ही कुछ काँपने भी लगा। उसने मन-ही-मन जीवी का उपकार भी माना। ऐसे ही एक प्रसंग की चर्चा के समय भगतजी द्वारा कही हुई उस दिन की बात उसे याद आई और उसने मन मे सोचा—'सच है, जवानी के जोश में अन्धे होकर भाग तो जायँ, पर कितने दिन को ? जवानी का रंग उड़ते क्या देर लगती है ! उसके बाद तो जीवन-भर साँप निकलने के बाद लकीर पीटने की तरह आदमी के पास पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता।'

हीरा तथा धूला दोनों जने काफ़ी आगे थे। किसी सिंह की छाया के नीचे पड़े शिकार की ओर, आस-पास की झाड़ियों में लुक-छिपकर ताकने वाले चीते के समान, भय और लोलुपता से पीछे देखते रहने वाले धूला ने अपने को रोकने में असमर्थ पाकर कहा—"वह आने में आगा-पीछा करती जान पड़ती है हीरा भाई !"

धूला मुड़-मुड़कर पीछे देखता था। यह देखकर हीरा को कुछ

गुस्सा तो पहले ही से था, अब जो यह अवसर मिला तो बोला—"तू खुद तो चुप-चाप चल ! पीछे लौटकर भी क्या तुझसे कुछ हो सकता है ? जब तक कानजी तेरे अनुकूल है तब तक तुझे कोई फिक्र···"

धूला ने प्रसन्न होकर कहा—"इसीलिए तो काना भाई ने उसे आगे कर लिया जान पड़ता है।" और चुप रहना उचित लगने पर भी बोल पड़ा—"एक बार मेरे घर में आ जाय ! फिर तो···"

हीरा ने कहना चाहा—'यदि कहीं इस समय तेरा भाई (कानजी) सुन ले तो हो सकता है, तेरे घर में डालने का विचार ही छोड़ दे !' पर यह प्रकट न करते हुए उसने धूला को आँख दिखाते हुए कहा—"तू अपनी जात बताये बिना चुप रह इस समय !"

धूला चुप तो हुआ, पर वह भी "अच्छा भाई, यह लो मैं चुप हूँ; अब तो बस !" कहने के बाद ही।

पहला मुर्ग़ा बोलने के पहले ही वे ऊधड़िया की सीमा पर आ पहुँचे।

स्वागत करते हुए भूरे कुत्ते को पुचकारता हुआ कानजी घूरे के पास वाली इमली के नीचे खड़ा हो गया। धूला का घर थोक के नाके पर ही था इसलिए आगे के दरवाज़े से जाने में भी कोई बाधा न थी, फिर भी कानजी ने धूला से कहा—"अरे जा, जाकर पीछे का दरवाज़ा खोल !" और कुछ देर बाद हीरा से भी कहा—"हीरा, तू जाकर तब तक बाड़ में छेंड़ी कर, उससे कुछ नहीं होने का।"

"हाँ-हाँ, तुम यहीं खड़े रहो, मैं छेंड़ी करके बुलाता हूँ।" कहता हुआ हीरा भी चला गया।

बगलों में हाथ दबाए और सिर झुकाए खड़ी जीवी पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेद रही थी। कानजी ने उसकी ओर देखा, पुकारा—"जीवी !"

जीवी ने कोई जवाब न दिया। जैसे महुए से गिरते महुओं की 'टप-टप' आवाज सुनाई देती है वैसे ही कानजी को जीवी के झरते हुए आँसुओं की आवाज सुनाई दे रही थी। जीवी के पास जाते हुए वह यों

बड़बड़ा रहा था या मन में सोच रहा था, इसका तो खुद उसको भी पता न था—"इस जनम में तो तुझे अपने हाथों ही धकेलता हूँ। क्या करूँ ?" उसने एक हाथ जीवी की पीठ पर से होकर उसकी बाँह पर रखा और दूसरे से उसका सिर अपनी छाती से लगाया। जीवी की दबी हुई सिसकियाँ निकल पड़ीं। रोते-रोते हिचकियाँ बँध गईं। क्षण-भर के लिए कानजी की आँखों में आये आँसू सूख गए। 'अच्छा न लगता हो तो चल, चलें !' यह कहना चाहा; पर दूसरे ही क्षण बड़बड़ाया—'नहीं-नहीं, किसी के मुँह में रखे कौर···' और जीवी की ठोड़ी को ऊपर करते हुए गला साफ़ करके बोला—"तू क्यों फ़िकर करती है। मैं भी तो गाँव में ही हूँ। दुनिया की नज़रों में हम भले ही अलग हों, पर···" कानजी के कान में आवाज़ पड़ी—"काना भाई दरवाजा···" और धूला कानजी की बाँहों में जीवी को देखकर चुप हो गया। कानजी ने जीवी को अपनी बाँहों से अलग कर दिया। एक कड़ी नज़र धूला पर भी डाल ली।

इतने में ही हीरा आ पहुँचा। धूला से कहा—"मैं वहाँ तुझे घर में बुला रहा हूँ और तू यहाँ खड़ा है।" और कानजी की ओर देखकर बोला—"लो चलो, काँटे निकाल दिये हैं।"

हीरा के 'काँटे निकाल दिये हैं', वाक्य को सुनकर कानजी को कुछ हँसी आ गई। एक भारी साँस लेकर बोला—"अब मेरा यहाँ क्या काम है ! मैं भगतजी के यहाँ बैठा हूँ।" कहकर उसने कदम बढ़ाया। उस समय उसे एक-एक पैर मन-मन का लग रहा था।

भगतजी के ओसारे में पैर रखते ही कानजी को खाँसी आ गई। भगतजी को कुलबुलाते देखकर बोला—"क्यों भगतजी, सो रहे हो या जाग रहे हो ?"

भगतजी भूरे कुत्ते के भूँकने से जग गए थे। बैठे होते हुए बोले—"जागते होने पर ही जागते रहने की जरूरत है, नींद में होने पर तो निर्भय रहते हैं।" कहकर भगतजी खड़े हो गए। बगल में लगे अलाव पर

बैठते हुए पूछा—"क्यों चैन-चान है न !"

"तुम्हारा आशीर्वाद मिलने के बाद चैन-चान ही है भगतजी ! मुझे एक बार तमाखू पिलाओ न !" कहकर अलाव के पास बैठता हुआ कानजी बड़बड़ाया—"एक तो तमाखू पिये बिना मर गए।"

हुक्का भरते-भरते हीरा भी आ गया। उसके पीछे—सामने घर होने पर भी शायद ही कभी भगतजी के घर आने वाला—धूला भी आ पहुँचा। जेब से तमाखू निकालकर हाथ बढ़ाता हुआ बोला—"लो, यह तमाखू रखो न !"

कानजी को हँसी आ गई। बोला—"क्यों, यह कोई गधे की लीद तो नहीं भरी है।"

भगतजी का जी कुछ दुखी हुआ। कहा—"यह बेचारा प्रेम से लाया है तो इसके खत्म हो जाने पर इसको रख लेना !" कहकर धूला के हाथ से तमाखू लिया और अलाव के पास रख दिया।

धूला भी धीरे से अलाव के सामने जम गया। उसे कुछ कहना था, पर कह नहीं सकता था। उजेला होता तो भगतजी पहले ही बोल उठते; पर इस समय तो जब उसके शरीर की हलचल—बेचैनी बढ़ी तभी उनके ध्यान में आया। बोले—"तुम क्यों ठण्डे होकर बैठे हो हीरा ! घड़ी-भर बाद तो चौदस बीत जायगी। दो जनों को बुलाना हो तो बुलाकर फेर पटा (विवाह-विधि) कर डालो न ! फिर भगतजी ने आगे कहा—"और उन दो जनों का भी क्या काम है ! हम हैं ही। हाँ, गीत गाने वाली एक-दो छोकरियाँ बुला लो !"

"अपने से तो यह भी नहीं हो सकता कि उठकर पानी पी लें !" कहता हुआ कानजी भगतजी वाली खाट पर लम्बा हो गया।

"हाँ-हाँ, काना भाई ! तुम सो जाओ !" कहकर खड़े होते हुए धूला ने हीरा से विनती की—"हीरा भाई, तो तू ही उठ भाई ! अपने घर से कंकु भाभी और नथिया (हीरा की बहन) को बुला ला ! उस तरफ वस्ता काका के यहाँ भी ज़रा कहते आना ! और जीवी भाभी

(जीवी नहीं) को तो ज़रा खबर देनी ही पड़ेगी। इतना तो तू कर भाई।"

तमाखू का घूँट लेता हुआ हीरा हँस पड़ा। 'फक्क' से मुँह का धुआँ बाहर निकल पड़ा। कुछ खाँसी भी आ गई। भगतजी को हुक्का देता हुआ बोला—"कहते हो न कि धूला भोला है भगतजी! दो के बदले पाँच तो गिना दिये और अभी खड़ा होता हूँ कि इतने में ही देखना।"

"ऐसा तो होता ही है, भगत काका! पर यदि उस थोक के मुखिया के यहाँ खबर न की जायगी तो कुछ बुरा लगेगा। बाकी बौहरे और उन सबको कौन बुलाता है।"

"अच्छा, तू ज़्यादा सयानपन किये बिना जा; और रोली, कलावा तथा अन्य जरूरी चीज़ें जुटा!" कहकर हीरा उठा और अँगड़ाई लेते हुए भगतजी से बोला—"यह तमाशा तो देखो भगतजी, यह नाई कहता है कि तुम मेरे नाई बन जाओ!"

"कभी-कभी ऐसा भी होता है।" कहकर भगतजी हँसने लगे।

"नहीं भाई, नहीं! तेरे लड़के का ब्याह हो तब देखना! यदि हुक्के की एक चिलम भी तुझे भरने दूँ तो इस धूलिया से चाहे जो कहना!" कहकर आँखें मटकाता हुआ धूला घर गया।

किसी विचार में मग्न भगतजी थोड़ी ही देर बाद खड़े होते हुए बोले—"मेरा तो तुझसे यही कहना है कानजी कि यदि लाया है तो लाने की लाज रखना!" और हाथ में लोटा तथा कन्धे पर धोती डाल-कर "ऐसा हो तो उस कोने में खाट बिछा ले! यहाँ तो अभी गड़बड़ होगी और जो नींद आई है वह भी उचट जायगी।" कहकर नित्य के नियमानुसार—पर आज कुछ जल्दी—नदी की ओर चल दिए।

देखते-देखते गाँव की औरतों से धूला का घर भर गया। धूला का एक दस-बारह वर्ष का भाई था। वह मुखिया और दो-चार अन्य पटेलों को बुला लाया।

एक तो धूला का घर वैसे ही खाता-पीता था और उसमें भी यह अवसर। हालाँकि जीवी के पीहर वालों का कुछ विरोध था, लेकिन फिर भी यह तो था ही कि एक रात में औरत की थी। उसमें भी हीरा-जैसा उदार कर्ता-धर्ता मिला। तब फिर गुड़ बाँटने में कैसे कमी रह जाती।

इस बे-मोसम के विवाह का आनन्द लूटते युवक और युवतियों की शीतल प्रभात को बुलन्द आवाज़ ने आस-पास की सीमा और नज़दीक के गाँवों को यों विचार-मग्न कर दिया—'अरे भाई, इस ऊधड़िया में मुर्ग़ा बोलते ही यह जो गीतों की झाड़ा लग रही है सो क्या है?'

और इसका जवाब देने वाला सामने वाला श्रोता भी प्रश्न ही पूछता था—'किसी के यहाँ लड़का हुआ होगा। और तो क्या हो सकता है?'

"हाँ भाई, ऊधड़िया के जवानों का भला क्या पूछना? साले ब्याह तो करेंगे दरअसल गुड्डों का और ठाट ऐसा रोपेंगे, जैसे इकलौते लड़के का ब्याह हो रहा हो।" कोई अनुभवी कहता। तो दूसरा अपनी जवानी की याद करता हुआ बताता—"होगा, यदि कुछ न मिले तो ऐसा आयोजन करके गीत गाने में बुराई ही क्या है?"

लेकिन जब यही प्रश्न गाँव वालों के मन में भी उठता था, दूर वालों की तो बात ही क्या करना। जो जागता वही अड़ोसी-पड़ोसियों को जगाता। वे तीसरे से पूछते और होते-होते उसका निराकरण करने के लिए दो-चार का झुण्ड बनकर धूला के यहाँ आ पहुँचता। एक बड़ी परात में गुड़ भरकर पौरी में ही खड़ा हुआ हीरा आने वाले की अंजलि में गुड़ रखते हुए जवाब देता—"किस बात का, यह घर में जाकर देखो!"

बहुतों को तो यह अचानक होने वाला रामलीला का खेल-सा लगता था। धूला का चेहरा और पोशाक भी रामलीला के विदूषक के अनुरूप ही थे। मारकीन का बिना धुला फूला हुआ साफा, दिवाली पर पहनने को सिलाकर रखा हुआ नया अँगरखा, और शरीर के साथ मेल

खाने से इन्कार करती हुई मादर पाट[1] की माँड़ीदार अकड़ती हुई धोती आदि पोशाक (धूला की यह पोशाक मजदूरी के फटे-टूटे कपड़ों में, नींद से सीधे उठकर आने वाले गाँव के लोगों से उसे बिलकुल अलग कर रही थी) के अतिरिक्त अँगूठे से लगाया गया गाढ़ी रोली का लम्बा तिलक, उस पर चिपकाये मुट्ठा-भर चावल और गले में कलावे की चार-पाँच आँटियों का हार—इन सब वस्तुओं ने मिलकर जैसे धूला का रूप ही बदल दिया था। दाएँ हाथ की कलाई में कलावा बाँधने वाले ने भी—हीरा ही था—कोई कंजूसी नहीं की थी। परन्तु इसमें हीरा का दोष न था। उसने तो पहले नियमानुसार दो ही धागे बाँधे थे, पर धूला बोला—"कलावा खर्च होने से न डरना धूला भाई, घर में दूसरी गुच्छी है।" हीरा को गुस्सा आया और तीन अंगुल के बराबर कलाई भरकर धूला की इच्छा पूरी की।

घर में भरी हुई स्त्रियाँ वर तथा कन्या—यों दो पक्षों में बँटकर—एक-दूसरे को गाली गातीं और उसके बाद सीख-भरे गीतों की बौछार करतीं।

ओसारे में गाँव के अधेड़ और वृद्ध इसकी चर्चा करने के बाद कि यह बात कैसे बनी हीरा, कानजी तथा भगत जी की (भगत जी की इसलिए कि उनके बिना कानजी तथा हीरा में यह काम करने की सामर्थ्य नहीं थी) प्रशंसा करते, कुसुम्बा घोलते और हुक्का गुड़गुड़ाते बैठे थे।

जब कि आँगन की धरती ऐसी धमक रही थी कि उसकी धमक से ही जवानी से हाथ धो बैठने वाले स्त्री-पुरुष भी अँधेरे का लाभ उठाकर, जाती हुई जवानी का आनन्द लेने के लिए, घेरा बनाते जा रहे थे।

दिन निकलने के साथ ही आदमियों को होश आया। "मुझे तो अभी धार काढ़नी[2] है।" "अरी, मेरे तो चुटकी-भर भी आटा नहीं।" तो कोई "हाय-हाय! मेरी तो छोरी रो-रोकर मर गई होगी।" कहती

१. मोटा कपड़ा।

२. दूध दुहना।

हुई खड़ी हुई। ओसारे वाले भी अफीम के नशे में तो नहीं (क्योंकि उसके आने में, अभी देर थी) पर अच्छी तरह खाने की तरंग में "बहुत अच्छा हुआ। भगवान् ने दया की, नहीं तो धूलिया रह ही गया था।" तो कोई "भगवान् उसकी बेल बढ़ावे और सुखी रखे!" ऐसे आशीर्वाद के साथ हुक्का गुड़गुड़ाते घर की ओर चलने लगे। आँगन की घूमर[1] (गीत गाते समय स्त्रियों का गोल घेरे में घूमना) भी बन्द हो गई थी। विदा देने को खड़े धूला पर जो दो-चार स्त्रियों की नज़र पड़ी तो वे खड़ी-की खड़ी रह गईं और धूला की ओर देखकर गाने लगीं—

सुन रे छिनार के छोरा सीख देती हूँ।
कूड़े का टोकरा अपनी अम्मा को सौंपना।
खाना बनाना मेरी जीवी बहन को सौंपना॥
सुन रे.....
पानी की जेहर अपनी भौजाइयों को सौंपना।
ताला और कूँजी मेरी जीवी बहन को सौंपना॥
सुन रे.....

और यह सुनकर अनजान गाँव, अनजान घर और अनजान आदमियों में आ पड़ी जीवी की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। एक ही व्यक्ति परिचित था परन्तु 'अरे, कानजी कहाँ गया?'-जैसे प्रश्न में लिये गए उसके नाम के अतिरिक्त वह तो कहीं दिखाई तक नहीं देता था। देता भी कहाँ से? खाट की इस पाटी से उस पाटी तक करवटें बदलने वाले कानजी को स्वयं ही भय था—बिना देखे ही अपनी शक्ल के बारे में विश्वास था कि इतने आदमियों में किसी के भी सामने वह चुगली खाए बिना न रहेगी—फिर भले ही वह हँसे या न हँसे, बोले या न बोले।

१. गुजराती शब्द।

सातवाँ प्रकरण

●

हृदय का हुडा

नाग-कन्या की अद्‌भुत बातों की भाँति गाँव में जीवी की बातें भी हो रही थीं। खास तौर से उन मेले वालों में से कोई कहता था—"कानजी लाया तो उसे अपने घर में डालने को था, पर हीरा और भगतजी ने उसे खूब समझाया। उसे भी (जीवी को भी) बड़ी देर तक भगतजी के घर में बिठाकर रखा गया था। कानजी टस से मस नहीं होता था। अन्त में उसके बड़े भाई को बुलाया गया। वह कानजी के सामने रोया-झींका। तब कहीं जाकर कानजी माना तो सही, पर गुस्सा होकर सो गया। लेकिन इसके बाद हीरा और भगतजी सोचने लगे कि अब इस रॉड का क्या करें! मुर्गा बोलने वाला था। वापस भेजने जाते तो दिन निकल आता। फिर भी कहते हैं कि वह बेचारी तो जाने के लिए तैयार थी, पर कानजी के भाई को डर लगा कि आज नहीं तो कल, किसी-न-किसी दिन कानजी इसे लेकर भाग जायगा। इसलिए उस टींटे ने इस धूलिया के साथ गठजोड़ा करने की जुगत की। धूलिया के लिए तो जैसे भगवान् ही नीचे उतर आए। नहीं तो धूलिया भाई के कपाल में ऐसी इन्दर की परी-जैसी औरत कहाँ लिखी थी!"

तो कोई यह भी कहता—"इस बेचारी के कुटुम्ब में कोई नहीं है।

बाप है, सो अफ़ीम खाकर पीनक में रहता है। उसके बाद सौतेली माँ है। घर में तो उसीकी चलेगी न ? इसलिए उसने (माँ ने) अपने पीहर में···। होगा कोई काना, लूला या कोई बूढ़ा खच्चर ! ऐसा होगा तभी तो यह घर से भाग निकली है। नहीं तो अगर कोई अच्छा आदमी होता तो खुद ही सोचो कि क्या इस ठिगने धूलिया से कोई खुशी के साथ शादी करता ?"

तो कोई भगतजी को ही इसका मध्यबिन्दु बनाता—"यह सब कारिस्तानी इस भगतरा की है। इसीने धूलिया पर कोई जादू किया है। औरत क्या है, देखने-दिखाने लायक है; लेकिन इस प्रकार बेचारी का जीवन नष्ट कर दिया।"

तो कोई इसका प्रतिरोध करता—"अरे, चल-चल ! इसमें जीवन नष्ट करने की क्या बात है ? यह नहीं तो इसका भाई दूसरा। कोई-न-कोई तो ढूँढना ही पड़ता। बाकी सबमें क्या लाल लगे हैं ? सच पूछो तो सुन्दर पति की अपेक्षा तो ऐसा ही अच्छा। बेचारा ! न तो तेरी-मेरी-जैसी कोई राँडें ही मोहित हों, और न घर की मालकिन का ही जीवन नष्ट हो।"

तो फिर काली-जैसी कोई रहँट के पालने की याद करती हुई चुपचाप कहती—"इस धूलिया का तो इधर-उधर का बहाना ही है। काना भाई को तुम कच्चा न समझना ! देख लेना ! जीते रहो तो याद करना कि काली क्या कहती थी ?"

और यों एक नहीं, अनेक बातें हो रही थीं !

ये बातें विशेष रूप से स्त्री-समुदाय में और वह भी पनघट पर होती थीं। बाकी कुछ वृद्धों के सिवाय समस्त पुरुष-समुदाय को आजकल ऐसी बातें करने की फ़ुरसत ही न थी। एक ओर खलिहान में धान की दाँय[1]

१. गेहूँ, जौ, चना, धान आदि को काटकर खलिहान में इकट्ठा करके उसके ऊपर गोलाकार बैलों को घुमाया जाता है। इस प्रक्रिया को 'दाँय' कहते हैं।

चल रही थी तो दूसरी ओर रबी की फ़सल के लिए हल चल रहे थे। रात के वक्त दो घड़ी की फ़ुरसत मिलती। लेकिन उस फ़ुरसत का उपयोग तो अनादि काल से चली आती रीति के अनुसार हुड़ा गाने में ही होता।

दिवाली का दिन आया और गाँव का वातावरण बिलकुल बदल गया। जिन्हें मनुष्यों से घृणा थी ऐसे एक-दो आदमियों के अलावा आज समूचे गाँव ने काम को दो दिन के लिए खूँटी पर लटका दिया था। साधारण दिनों में नहाते वक्त रोने-मचलने वाले बालक भी आज तो बड़े सवेरे ही नहाकर और फूलदार कपड़े पहनकर मुखिया की बैठक की ओर रवाना हो गए थे। खाट में बैठे होने के बाद, मुँह फाड़-फाड़ कर (जँभाई लेकर) अफीम मँगाने वाले अफीमची लोग भी हुक्का ले-लेकर मुखिया की बैठक में आकर दीवार के सहारे बैठ गए थे। स्त्रियों को यद्यपि रोज के जितना ही काम था और उन्हें कहीं मण्डली में भी नहीं जाना था तो भी 'आज तो दिवाली है' यह प्रसन्नता उनकी चाल और मुख पर झलक आती थी। और जवानों का तो पूछना ही क्या! सब अपनी मनचाही टोली में मतवाली चाल से चलते और हुड़ा गाते मुखिया की बैठक में आ रहे थे। बैठक में आते ही वे अपने गीत की पंक्तियों को छोड़कर, वहाँ गाये जाने वाले गीत की पंक्तियों को उठा लेते और यों उस वातावरण में स्वयं भी खो जाते थे।

परन्तु अभी हुड़ा का असली रंग नहीं जमा था। दो रसिक वृद्धों ने तो कहा भी—"अरे, यह तुम हुड़ा गाते हो या मज़ाक करते हो! ज़रा स्वर को ऊँचा चढ़ने दो!"

तो कोई जवाब देता—"इनसे कुछ नहीं होगा। अभी उस लाल टोली (यह नाम कानजी और हीरा की टोली को दिया गया था) को आने दो, फिर देखना रंग।" और तभी मुहल्ले के नाके से आती आवाज़ कान में पड़ी। हृदयोर्मि से गाये गये गीतों की मिठास और मादकता ही कुछ और होती है! कानजी, हीरा और एक तीसरा—यों तीन जने एक-दूसरे की कमर में हाथ डाले ऐसे चल रहे थे जैसे शराब के नशे में झूम

रहे हों। पीछे इसी ढंग से आती चार जवानों की टोली सुर मिला रही थी—

'ब्याहें ब्याहें रे····सघन वन में कभी
वेलु और भोजा ग्वाल।
कहाँ से लाओगे रे···· वन में बाजा
भोजा ! कहाँ से शहनाई की जोड़।'

जब कि भोजा जवाब देता है—

'सवा सौ ग्वाला वेलु ! गाने को आवें
उनमें ढोली[1] का बेटा भी संग।'

और इस प्रकार गाती-गाती यह लाल टोली बैठक में आ खड़ी हुई। बैठक का सारा वातावरण ही जैसे इन लोगों के अधीन हो, ऐसे इन लोगों के लिए जगह की गई। हुडा गाने वाले जवानों ने भी दो भागों में बँटकर इन लोगों के ही हुडा को चालू रखा।

गीत आगे बढ़ा ! वेलु नाना प्रकार की बाधाओं का उल्लेख करती है। नारियल की बाधा सामने आती है।

उसका जवाब भी भोजा के पास तैयार है—"हमारे वन में है अनगिन बिल्लियाँ, वे सब हर्ष से आयँगी मेरे काम।"

और इस प्रकार बाधाओं का उल्लेख करती वेलु को सन्तोषप्रद उत्तर देता हुआ भोजा अन्त में उससे विवाह करता है।

प्रकरण पूरा होते ही कानजी चुप हो गया। सामने दीवार के सहारे बैठे भगतजी से कहा—"भगतजी जरा हुक्का तो पिलाओ !"

"अरे भाई ! क्यों नहीं ? लो न !" भगतजी के पास बैठे एक अफीमची ने कहा और जैसे तमाखू का सारा सत खींच लेना चाहता हो, ऐसे हुक्के की नली से मुँह लगाये-लगाये ही उसे बढ़ाता हुआ झुका।

आस-पास के लोगों के साथ कानजी भी हँसा।

आँगन में हुक्का भरने के लिए सुलगाई गई आग के पास टोल बना-

१. ढोल बजाने वाला।

कर खड़े हुए लड़के पटाखे छुटा रहे थे। दूसरी ओर बैठक में कुसुम्बा की हथेलियाँ भरकर एक-दूसरे के सामने की जा रही थीं। "अरे, आज दिवाली के दिन भी क्या 'ना' की जाती है।" "क्या मेरा हाथ पीछे हटाओगे!" ऐसे बारह महीने बाद आने वाले खुशी के दिन भी 'ना'! ऐसे आग्रहों से बैठक गूँज-सी रही थी।

फिर भी न जाने उस गीत के बन्द होने के कारण या उस प्रेम-कथा के रस में सराबोर प्राणों के विरह-वेदना अनुभव करने के कारण चाहे जो-कुछ हो, पर हर एक व्यक्ति के हृदय को एक प्रकार की निस्तब्धता ने घेर लिया था।

इसके बाद सुखड़ी[1] बाँटी और वहाँ से उठी हुई मण्डली धूला के नई औरत करने की खुशी में, उसके द्वारा दिये निमन्त्रण का आदर करने के लिए, उसके यहाँ जा बैठी। कानजी का हुडा चालू ही था···

भोजा के साथ खेल-ही-खेल में ब्याही हुई वेलु बड़ी होती है। उसके रूप पर मुग्ध राणा उसके बाप के पास विवाह का प्रस्ताव भेजता है। राणा से कौन इन्कार कर सकता है। उससे अच्छा जमाई और कौन मिल सकता था?

राणा भोजा गूजर को बारात में आने का न्योता भिजवाता है—

'भोजा घोड़े पर रख ले जीन
मेरी बारात में जल्दी आ।'

भोजा को वन में ढोर चराते वे दिन और वेलु के साथ हुए अपने विवाह की याद आती है; विचार-मग्न हो जाता है। मन की इस परेशानी को झालोर[2] गाय (कामधेनु-जैसी गाय) के सामने व्यक्त करता है।

१. आटे, घी और गुड़ से बना एक खाद्य-पदार्थ, जिसे थाली में जमाकर बर्फी की तरह काटकर उसकी कतलियां बना ली जाती हैं।

२. राजस्थान के एक स्थान का नाम, जहां की गाएं प्रसिद्ध हैं।

झालोर गाय की सम्मति मानकर पाताल में चरती 'बावली'[1] घोड़ी खरीद लाता है—

'राणा की बजी हें छत्तीस शहनाइयां
उस गूजर के ढमके हें ढोल !'

राणा की बारात में जाने की अपेक्षा भोजा स्वयं दूल्हा बनता है। सवा सौ गूजरों के समूह के साथ भोजा भी राणा की बगल में पड़ाव डाल देता है।

बेलु का बाप परेशानी में पड़ जाता है। अन्त में फौलादी दरवाजा तोड़ने और कोट से कूद जाने की कड़ी शर्तें रखता है। लेकिन इसमें तो उल्टी भोजा की ही जीत होती है। बेलु के बाप की परेशानी और बढ़ती है।

दोनों दूल्हे तोरण के सामने आ खड़े होते हैं। राणा तोरण पर जरी की धोती डालता है, जब कि भोजा हार डालता है। यह बात जानकर बेलु कहती है—

'धोती-बोती तो राणा फट जायगी
मेरे हिये में रहेगा वह हार···।'

इतना होने पर भी बेलु का बाप अपनी लड़की को राणा के साथ ब्याह देता है। राणा बेलु को लेकर वापस लौटता है। परन्तु

'तीन राहों का आया तिराहा
बैठी रिस होके बेलु नारी।'

और जो बेलु ब्याह होने तक बाप के आगे मुँह तक न खोल सकी थी वह बियाबान जंगल में राणा से साफ कह देती है—

'क्यों रे चलूँ राणा गंजे,
तेरे मुँह पर नहीं हे मूँछ।'

इस पंक्ति को पूरी करके कानजी एक युवक की ओर देखकर बोल

१. घोड़ी की एक जाति, जिसका रंग काला और सफेद, या लाल और सफेद होता है।

उठा—"इसे कहते हैं औरत।"

"ये तो सतजुग की बातें हैं, इस कलजुग में तो ऐसी···"

ऐसा कहते हुए एक अधेड़ के बीच में ही कानजी बोला—"ठीक है भावा भाई, आजकल की तो उल्टी सामने वाले का सिर कटवा दे।" और फिर अपनी बारी आने पर गीत गाने लगा।

वहाँ से तो बेलु को जाना पड़ता है, पर इतने में ही एक कलार की दूकान आती है। राणा के संगी-साथी शराब पीकर बेहोश हो जाते हैं। इस अवसर से लाभ उठाकर बेलु उस कलारिन के यहाँ छिप जाती है।

पीछे से भोजा भी शराब पीने आ पहुँचता है। बेलु के पैर के तलुए उसकी नज़र पड़ते हैं! वह कलारिन से पूछता है—

'सच बता री भाथु कलारिन
तेरे घर में है कौन सी नारि।'

भोजा और बेलु के प्रेम से अनजान कलारिन बहाना बनाकर बात को उड़ाना चाहती है, पर भोजा नहीं मानता; अन्त में बेलु उसके हाथ लगती है।

और इसके बाद जब सुखी जीवन बिताने के दिन आते हैं तो धूला अपने दरवाजे में खड़ा होकर कानजी को आवाज़ लगाता है—"काना भाई, ज़रा इधर आना!" विवश होकर कानजी उठता है।

"ज़रा सुखड़ी बनाने की तरकीब तो बताओ! देखो यह इतना आटा···"

"लेकिन जब यह समूचा हीरा ही तेरे पास बैठा है तो मुझे इसमें···"

"तो भी, तू बता तो सही! ले, कुछ नहीं करता तो यहाँ बैठकर हुक्का तो पी!" हीरा ने हुक्का रखा और पस्सै[1] भरकर यह अन्दाज करने लगा कि वह कितने सेर होगा।

कानजी खाट पर बैठा था। सामने ही कोठी के सहारे नये कपड़ों में

१. दोनों हाथ भरकर अन्दाज़ करना।

लिपटी जीवी बैठी थी। नानी बुढ़िया आटे की डलिया लेकर उठी। जीवी के मुंह को खुला देखते ही बोली—"हाय-हाय, बहू! सामने वह काना बैठा है, ज़रा घूँघट तो काढ़!"

यदि यह कहा जाय कि इससे कानजी तड़प उठा, तो अनुचित नहीं है। 'जिस मुँह को देखकर ही सन्तोष किया जा सकता था वह भी आज से सदा के लिए बन्द हो रहा है।' कहा—"अरे क्या पागल हुई है नानी काकी! क्या मुझसे भी घूँघट काढ़ा जायगा? मैं और धूला तो एक ही उमर के हैं।"

"तो भी तू महीना-आध महीना बड़ा तो होगा ही। जिस दिन तेरी माँ सोहर से नहाई उसी दिन धूलिया का....."

हीरा बोल उठा—"अरी, समझ गए भैया! बरस-दो बरस का फरक हो और घूँघट काढ़ा जाय तो कोई और बात है।"

धूला बोला—"और घूँघट काढ़ने से ही क्या होता है! यह तो....." और बुढ़िया को अपनी ओर घूरते देखकर कहने लगा—"तू मेरी तरफ़ यों क्यों देखती है माँ! घी-गुड़ कब लायगी?"

कानजी अभी तक उस घूँघट की ही धुन में था। जिस शब्द को जीभ पर लाते शायद महीनों लग जाते—और वह भी महा मन्थन के बाद—वह झट से होठों के बाहर निकल पड़ा—"नहीं री जीवी 'भाभी', ऐसी एक महीने की लहोर-बढ़ाई मैं घूँघट नहीं होता, समझी! नानी काकी तो वैसे ही।"

"तो मैं ही कौन इसके पीछे पड़ी हूँ। वह तो आज मेरी नज़र पड़ गई, इसलिए मैंने कहा कि काढ़ लिया होता तो अच्छा था; नहीं तो न भी काढ़े तो क्या बिगड़ा जाता है?" घी की चपटिया[1] के साथ बाहर आती नानी बुढ़िया ने कहा। और इसके बाद घी उँडेलते-उँडेलते मुँह मटकाकर बोली—"इस हीरा के बाप के साथ और मेरे साथ भी यह तुम्हारे-जैसा ही हुआ। मैं पहली बार ही सासरे आई थी। जैसे यह जीवी

१. मिट्टी का पात्र।

बहू बैठी है ऐसे ही मैं भी बैठी थी और वे ऐसे बैठे थे जैसे तू। आकर बैठ गए। इतने में घर में से मेरी सास.....''

''अरी, तू एक बार गुड़ लाकर दे दे !'' धूला ने ऊब प्रकट की।

बुढ़िया बात अधूरी छोड़कर फिर उठी।

यह अवसर पाकर कानजी भी उठ गया।

बाहर गीत गाने वाले युवक बेलु और भोजा के संक्षिप्त विवाहित जीवन का भाग पूरा कर चुके थे। अच्छे-अच्छों के कठोर हृदय को पिघला देने वाले अन्तिम भाग में कानजी ने स्वर मिलाया।

एक सन्ध्या को झरोखे में खड़ी बेलु पश्चिम दिशा की ओर देख रही है। शंका-कुशंका में गोते खाता मन पूछता है —'रोज तो ढोर इससे पहले ही आ जाते थे, आज कैसे देर हो गई?' इतने में ही गायों के झुण्ड को खड़े खेत में होकर आते देखा। बेलु सोचती है—

'सीधे रास्ते आती थीं नित्य रे
क्यों रूँदा हरा-भरा धान ?'

तभी झालोर गाय आ पहुँचती है। उसके सींगों को रँगा देखकर बेलु पूछती है—

'कहां से रंगाये माता सींग री,
तेरा कहां है भोजा ग्वाल ?'

गाय जवाब देती है—

'सामने सीम में है सांप की बांबी,
हर्ष से रंगे हैं मेरे सींग।'

बेलु फिर वही प्रश्न करती है—

'अच्छे रँगे हैं माता सींग री,
पर छोड़ा कहां भोजा ग्वाल ?'

कुछ देर गप-शप करने के बाद गाय कहती है—

'छोटे नीम के नीचे भोजा सो रहा,
कोई लम्बी के चादर तान।'

गाय के इन वचनों और रँगे हुए खून से भरे सींगों को देखकर बेलु समझ जाती है। एक बार तो गाय को धिक्कारती है, पर होश आते ही शोक को छोड़कर कहती है—

'भोजा गया सो तो कुछ नहीं माता,
पर देखता बेलु की बाट।'

और गाय के साथ ही बेलु वन को चल देती है। भोजा के मृत शरीर को अपनी गोद में रखकर चिता की उठती हुई लपटों के बीच बेलु कहती है—

'हर्ष से ब्याहे हम वन में भोजा,
हर्ष से जलेंगे आज।'

और समाप्त होती प्रेम-कथा की 'हर्ष-भरी' इन करुण पंक्तियों ने किसी की आँखों में आँसू ला दिये तो किसी से मन-मन के निःश्वास छुड़वा दिये। कानजी ने एक भारी निःश्वास छोड़ते हुए दूर बैठे भगतजी से कहा—"इसका नाम है प्राणों का मिलन, क्यों भगतजी!"

"हाँ, प्राण जब एक-दूसरे से मिल जाते हैं तब यह हाल हो जाता है कि काँटा तो लगता है एक को और उसकी पीड़ा होती है दूसरे को।"

"सच है भगतजी! जब लगन लगती है तब एक प्राण दो शरीर वाली दशा हो जाती है।" मनारे के बाप ने भी हाँ-में-हाँ मिलाई।

इसके बाद कानजी के भाई ने नरसी मेहता और मीरा का उदाहरण दिया। तभी 'मैं भी कुछ जानता हूँ', यह दिखाने के लिए मुखिया बोल उठे—"अरे, पर दूर क्यों जाते हो? भगवान् ने दुर्योधन का भोजन छोड़कर विदुर का साग खाया, यही देखो न।"

और यदि सुखड़ी न आ पहुँची होती तो कोई सुदामा-चरित्र, ध्रुवाख्यान और ओरवाहरण-आख्यान भी कहने लग जाता।

बीतते वर्ष के दिन भी एक-दो जगह मजलिस तो जमी, पर कानजी उस ओर फटका तक नहीं। घर में कुछ चैन न मिलता देखकर उठा और "मैं बैलों को देख आऊँ" कहता हुआ चल दिया।

यद्यपि कानजी की यह बात सच थी तथापि वह केवल इसीलिए सीम में घूमने नहीं निकला था। यदि उसने अपने अन्तर को टटोला होता तो उसे स्वयं पता चल जाता कि इस समय उसे न तो आदमियों में बैठना अच्छा लगता था और न किसी से बात करना। उसके अन्तरतम में तो वही पंक्ति गूँजती रहती थी—

'हर्ष से ब्याहे हम वन में भोजा,
हर्ष से जलेगे आज।'

और उसे भूलने के लिए उसने बड़ी-बड़ी कोशिशें कीं, लेकिन जैसे वायु में मिली सुगन्ध को अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही रक्त के साथ मिले उस पंक्ति के भाव को भुलाना भी कठिन था।

बैलों को सजाने की तैयारी करते हुए लड़कों के कुछ सवालों का जवाब देकर कानजी वापस लौटा। जब वह गाँव में आया तब बुढ़ियाओं के अलावा सब लोग पूर्व दिशा वाले सिहद्वार की ओर रवाना हो चुके थे। कानजी भी सीधा सिहद्वार पर पहुँचा।

गायों को सिहद्वार पर पहुँचाने का काम समाप्त करके स्त्रियाँ और बालक गाँव की ओर लौटे, जब कि पुरुष एक बहुत पुराने महुए की ओर मुड़े।

सब लोग घेरा बनाकर बैठे थे। घर पीछे कम-से-कम एक-एक आदमी तो है ही, यह तसल्ली कर लेने के बाद मुखिया खड़े हुए। बोले—"लो चलो, अब किसकी बाट देख रहे हो? इस साल इतनी ग़नीमत है कि कोई लड़ा-झगड़ा नहीं।" इतना कहकर पास वाले आदमी से भेंटने को मुड़े। मुखिया से भेंटने के बाद वह आदमी भी मुखिया के पीछे चला और यों भेंटने का काम पूरा हुआ।

काफी अँधेरा होने पर सब गाँव की ओर मुड़े। अन्तिम गीत गाया गया—

'जीते रहो तो मजलिस लगाना
मरने वाले का हो अन्तिम प्रणाम।'

इसके बाद दिवाली और बीतते वर्ष की एक ही क्रिया शेष रह जाती थी; और वह थी घर रहने वाले सगे-सम्बन्धियों से भेंटने की। इसके लिए जवान लड़के और लड़कियाँ मेल-मिलाप वालों से मिलने गाँव में निकल पड़े।

हर दिवाली को कानजी बड़ी भाभियों, काकियों आदि से मिलता-मिलाता लगभग पूरे गाँव का चक्कर लगाकर ही घर आता था, परन्तु इस दिवाली को वह सीधा घर आया। भाभी से मिलकर उसका आशीर्वाद लिया और खत्ती पर बिछी खाट पर हुक्का लेकर बैठ गया।

इसके बाद गाँव के कितने ही युवक, लड़कियाँ और ब्यौहारी भी भाभी से मिल गए। जिनसे उचित समझा उनसे कानजी भी मिल लिया। परन्तु इतने में ही जीवी आई और वह सन्न-से रह गया। जीवी के भाभी से मिल लेने के बाद उसे खुद उठना चाहिए था, लेकिन न तो वह उठा और न जीवी ने ही कोई तत्परता दिखाई; तभी भाभी बोली—"क्यों बैठे हो देवर! जीवी बहू तुमसे घूँघट तो काढ़ती नहीं, फिर मिलने में क्यों···"

"मिलने से ही क्या होता है!" कानजी ने कहा। इतने पर भी यदि जीवी "तो अब चलूँ बड़ी जीजी" कहकर न चल दी होती तो शायद कानजी मिलने के लिए खड़ा भी हो गया होता।

कानजी को भी यह अच्छा लगा कि मिलना इस प्रकार टल गया। कारण, इसमें उसे छल लगता था। भले ही जीवी के साथ उसका अनुचित सम्बन्ध अथवा ऐसा कुछ न था फिर भी देवर-भौजाई का सम्बन्ध तो नहीं ही था। उसने मन में कहा—'लोक की दृष्टि से चाहे भाभी भी वहम न करती हो, पर जैसा भगतजी कहते हैं, दुनिया को छलना अच्छा है पर मैं कोई अपने को थोड़े ही छल रहा हूँ।'

लेकिन दूसरी ओर जैसे भगतजी ही कानजी से पूछ रहे हों ऐसे कोई उसके अन्तरतम में उससे पूछ रहा था—'भले आदमी क्यों बनता है? हीरा के लिए तो माना भी जा सकता है, क्योंकि (सच-झूठ तो भगवान्

जाने, पर जैसा लोग कहते हैं) उसके बाप और नानी काकी में···। फिर नानी काकी तो आज भी हीरा पर अपने पेट के लड़के जितना प्यार करती है। इसलिए उसे (हीरा को) तो कदाचित् धूलिया के प्रति लगाव हो भी सकता है; लेकिन तुझमें और धूलिया में ऐसा क्या था, जो तूने तरस खाकर उसे औरत करा दी। और कुछ नहीं तो कम-से-कम इतना स्वार्थ तो है ही कि जीवी नज़र के सामने रहेगी।"

भोजा-बेलु की अन्तिम पंक्ति याद करते हुए एक भारी साँस लेकर वह हँसा और मन-ही-मन कहने लगा—

'भोजा ब्याहे थे हम बने बन में,
और मन में निकाली थी बात।'

और इसके बाद न जाने कैसे फिर एक मन-भर का निःश्वास निकल पड़ा।

आठवाँ प्रकरण

•

लाने की लाज रखना

स्त्री के शरीर में यौवन का उफान आते-आते शान्त हो जाता है। यही बात धरती के लिए भी थी। चौमासे की झड़ी और तूफान शान्त हो गया था। धरती द्वारा पहनी हुई हरी साड़ी का रंग भी जैसे उड़ने लगा था। उसमें भी रबी की फसल के लिए तैयार किये गए इक्के-दुक्के खेत देखकर तो ऐसा लगता था मानो बीच-बीच में थेगड़ियाँ ही लगा दी गई हों।

परन्तु स्त्री के शान्त यौवन की भी एक अद्भुत खुमारी होती है। वही खुमारी कुए का पानी पीकर बढ़ी हुई गेंहूँ की फसल के ऊपर दिखाई देती थी। यह सारी-की-सारी फसल पूर्व दिशा से धीरे-धीरे आती हुई शीतल वायु में, मन्द-मन्द मुस्कराती दिखाई देती तो क्षण-भर बाद ही ओस की बूँदों में सूर्य को नचाती हुई धीर-गम्भीर बन बैठती; दोपहर के समय ऐसी फीकी दिखाई देती जैसे अत्यधिक कार्य की व्यग्रता में पड़ी हो, तो संध्या-समय उन सब चिन्ताओं को भूलकर हँसने का प्रयत्न-सा करती। वस्तुतः संध्या के समय तो वह ऐसी लाल-गुलाल बन जाती, जैसे उसकी पिया-मिलन की अधीरता; और अर्ध-रात्रि की शीतल समीर में तो यह सारी-की-सारी फसल धरती की ओर ऐसे ढलती रहती, जैसे मानो

सिसकारी भरती हुई पिया की गोद में छिप रही हो।

किसानों ने भी चौमासे के ऊँचे-ऊँचे मचानों को छोड़कर धरती पर ही आसन जमा दिया था। साग[1] के पत्तों से छाई हुई झोंपड़ी की जगह घास के पूले बाँधकर छोटी-सी झोंपड़ी ही बना ली गई थी। चौमासे की बदली वाली रात में बजते अलगोझे या बाँसुरी की जगह किसी-किसी झोंपड़ी से इकतारे के मधुर स्वर आ रहे थे।

कानजी का अपना कुआ न था, जब कि हीरा का था; पर पुर लेने या पानी काटने वाला कोई दूसरा साथी न था इसलिए ये दोनों जने पिछले कई वर्षों से रबी की फसल साझे में ही करते थे। फिर शुरूआत में हीरा को एक और भी आराम था। वह यह कि कानजी के अकेला—फक्कड़ होने के कारण झोंपड़ी पर नम्बरवार सोने का प्रश्न ही जाता रहा था। लेकिन अब तो हीरा दो बच्चों का बाप बन चुका था। इसलिए घर की अशान्ति की अपेक्षा झोंपड़ी की कड़ाके की ठण्ड उसे अधिक अच्छी लगती थी। लेकिन वहाँ कभी-कभी कानजी अशान्ति पैदा कर देता था—"तू यहाँ सोने आता है, यह मुझे बुरा नहीं लगता। क्योंकि मेरे लिए तो एक से दो अच्छे; लेकिन क्या तुझे इसकी भी खबर है कि घर पर कंकु भाभी मेरी जान ले लेगी।"

हीरा हँसकर जवाब देता—"कभी जान ली होगी; पर अब तो वे दिन गये कानजी! अब तो उल्टे घर सोने में ही जान जाती है।

ऐसा कहने पर भी कभी-कभी तो कानजी हीरा को आधी रात के समय ही घर को धकेलता। हीरा को बड़ा गुस्सा आता, लाचारी भी दिखाता; पर कान जी माने तब न। बेचारे हीरा को विवश होकर वहाँ से जाना पड़ता। "इस वक्त कोई घर जाता देख ले तो क्या कहेगा?" इस भय के अतिरिक्त सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि किवाड़ खुलवाने के लिए चिल्लाना पड़ता था। प्रायः वह दूसरी झोंपड़ी में ही गोता मार जाता। दूसरे दिन जब कानजी को पता चलता तो वह पेट पकड़कर हँसता।

१ वृक्ष विशेष।

इस वर्ष भी कानजी को वह पुराना मज़ाक याद आया और एक बार तो वह कर भी दिया। परन्तु दूसरी बार जैसे ही ऐसा हुआ वैसे ही हीरा को सन्देह हो गया—'ये महाशय कहीं और कुछ तो नहीं करते।' और यदि ऐसा हो भी तो इसके लिए बहुत सोच-विचार करने की ज़रूरत न थी। धूला के घर की दिशा में ही खेत भी था। इस बात की जाँच करने के लिए ठण्ड से सिकुड़ता और इधर-उधर देखता हीरा एक ओर छिप रहा, पर न तो झोंपड़ी की आग ही बुझी और न कोई जाता ही दिखाई दिया। 'इस टेकरी का चक्कर लगाकर तो न गया होगा' ऐसी शंका होती; लेकिन तभी कानजी या तो सियार भगाने को उठता या चिलम भरता दिखाई देता। बड़े सवेरे अपने घर की ओर मुड़ता हुआ अपने सन्देहशील स्वभाव पर बड़बड़ाया—'अरे मूरख! ज़रा यह तो सोच कि यदि ऐसी बात होगी भी तो क्या कानजी तुझसे कहे बिना रहेगा? उसने तो उसी दिन सौगन्ध खाकर कहा था कि मुझे जीवी का मुँह देखे उतने महीने बीत गए हैं, जितने दिवाली को बीते हैं। उसका पूरा मुँह देखे भी काफ़ी दिन हो गए।'

कानजी के इस कथन में तनिक भी झूठ न था। निश्चय करके मिलने की बात तो दूर रही, वह तो इस भय से कि कहीं अचानक भेंट न हो जाय, चलने-फिरने में भी बड़ी सावधानी बरतता था। जीवी ने रतन के साथ जो भाएला[1] जोड़ा था वह भी उसे खाये जाता था। इसीलिए तो उसने रतन का जाना-आना भी बन्द करा दिया था।

एक दिन मुहल्ले में घूमती रतन से छाछ ले आती जीवी ने पूछा—"क्यों रतन, अब मेरे घर नहीं आती? आ, चल···"

"नहीं, जा, नहीं आना!" रतन ने मुँह बिचकाकर कहा।

"लेकिन मैं तुझे गुड़ दूँगी। तू चल तो सही।" कहकर जीवी ने रतन की बाँह पकड़ी।

रतन ने भयभीत दृष्टि से घर की ओर देखा। खेतों से आते रास्ते

१. मित्रता, सहेलीपन।

की ओर भी देख लिया। और अन्त में जीवी की ओर करुण दृष्टि से देखकर बोली—"नहीं मेरे काका मारेंगे।"

क्षण-भर के लिए जीवी का मुँह ऐसा उतर गया जैसे पीलिया हो गया हो। जैसे विश्वास न होता हो ऐसे पूछा—"तेरे काका ने मना किया है या बापा ने?"

"नहीं, मेरे काका ने?" कहकर रोनी-सी सूरत से रतन जीवी की ओर देखने लगी।

कहीं ऐसा न हो कि भूल से कह रही हो, इसलिए तीसरी बार यही सवाल दुहराया—"तेरे काका ने?"

"हाँ···आँ।" कहते हुए रतन ने सिर हिलाया।

जीवी ने तुरन्त उसकी बाँह छोड़ दी और होंठ चबाती हुई चली गई।

अब तक तो जीवी का यही विश्वास था कि कानजी का यह अपने से दूर रहने का व्यवहार लोगों के दिखाने के लिए ही है, पर आज जब रतन को "नहीं, मेरे काका मारेंगे" कहते सुना तो उसकी आँखें खुलीं। एक बार तो वह झुँझला उठी—'यदि यही करना था तो मुझे यहाँ लाये ही क्यों? कौन सा सगा भाई बिना औरत के रहा जाता था जो वचन लेकर मुझे बाँध लिया।' और यदि आज उसे कानजी मिल गया होता तो वह शायद बीच रास्ते में उससे लड़ भी पड़ती।

घर में घुसते ही सास को कहते सुना—"ओहो छाछ लेने आन-गाम गई थी क्या री!" दिन-भर चक्की खोटने वाली की तरह 'खुट-खुट' करती सास को 'होगा, यह तो उसकी आदत ही हो गई है,' कह-कर टाल देने वाली जीवी को आज क्रोध आ गया। छाछ की मलरिया[1] को चौके के बाहर कोठी के पास रखती बोली—"ऐसा ही था तो तुम जातीं!"

"यह तो समझ गई कि तू बड़ी कमाई करके आई है; पर मलरिया

१. मिट्टी का छोटा पात्र।

को तो ठिकाने से रख !" नानी बुढ़िया ने कहा और जीवी को "रखो रखना हो तो" कहकर चक्की वाले चबूतरे पर बैठती देखकर, दायें कन्धे पर सिर की झोंक देते हुए बोली—"वाह ! सब-कुछ मैं ही करूँगी तो क्या तू मेरे घर गद्दी पर बैठने आई है ?"

"बड़ी आई गद्दी पर बिठाने वाली !" कहकर जीवी उछलकर खड़ी हो गई। सार[1] से टोकरा लिया और बगल में दबाकर घर से बाहर निकल पड़ी।

पीछे बुढ़िया बड़बड़ाती ही रही—"लेकिन मुझे कण्डों में आग तो नहीं लगानी ? अभी घड़ी-भर में कुआ छूटने वाला है और खाने का ठिकाना तक नहीं" पर जीवी ने तो "करो, करना हो तो" की बड़बड़ाहट के साथ खेतों का ही रास्ता लिया।

सास भी, "इस राँड को आज हुआ क्या है ?" यों बड़बड़ाती हुई खाना पकाने में लग गई।

यह ठीक है कि जीवी बगल में टोकरा दबाये खेतों में कण्डे बीन रही थी, पर यह सब यन्त्रवत् ही हो रहा था। आधा टोकरा भरती और एक जगह ढेर लगाकर आगे बढ़ती; परन्तु उसे इसका भान तक न था कि उसने ऐसे ढेर कितने और कहाँ कहाँ लगाये हैं। बड़ी देर बाद जब वह हेल[2] चिनने बैठी तो उसने याद करके देखा कि वह इतने कण्डे बीन चुकी है, जिससे एक के बदले दो हेल चिनी जा सकें। समय भी बहुत हो गया था और वह आई भी सास की बिना मर्ज़ी के थी, फिर भी उसने हेल ऐसे धीरे-धीरे चिनी जैसे उसे इसकी कोई चिन्ता ही न हो। उठाने वाले की राह देखती बैठी रही। कुछ देर हुई होगी कि पास ही के झरने से पानी भरने आने वाली एक स्त्री को देखकर जीवी ने आवाज़ लगाई और बुलाया। जब वह हेल लेकर घर की ओर चली तब सूर्य पश्चिम में ऐसे सहज भाव से ढल गया जैसे दोपहरी बिताकर उठा हो।

१. घर में गाय-भैंस बाँधने की जगह।

२. टोकरे में कण्डों का चिनना 'हेल चिनना' कहलाता है।

धूला ओसारे में हुक्का पीता हुआ ऐसे बैठा था जैसे उसकी राह ही देख रहा हो। जीवी को देखते ही उसने पहला सवाल किया—"कण्डे लेने कौन-कौन गई थीं?"

जीवी ने कोई जवाब नहीं दिया। ओसारे में एक ओर औलाती के नीचे कण्डे डालकर, टोकरा लिये हुए वह घर में घुस ही रही थी कि धूला ने फिर पूछा—"क्यों, क्या कानों में ठेंठा[1] लगा लिये हैं?"

जीवी वहीं खड़ी हो गई। धूला की ओर गरदन घुमाती बोली—"क्या है?" और तीखी नज़र से उसकी ओर देखने लगी। मुँह की रेखाओं में भय का नामो-निशान तक न था। हाँ, एक प्रकार की कठोरता अवश्य थी। धूला काँप उठा।

धूला भी ऐसा न था जो अपनी धाक जमाने के इस प्रथम अवसर को हाथ से जाने देता। इसके विपरीत वह तो ऐसे अवसर की राह ही देख रहा था। वह तुरन्त खाट से उठा। जीवी को सटाक से खींचकर एक तमाचा जड़ा। ऊपर से एक लात भी लगाई। हुंकार तो चालू थी ही—"तेरी माँ की·····रॉड! तू अभी मुझे जानती ही नहीं। आज तो इतना करके ही छोड़ता हूँ, लेकिन आगे यदि अकेली कहीं बाहर गई या बुढ़िया का कहना न माना तो तू जाने!"

जैसे कुछ हुआ ही न हो ऐसे टुकुर-टुकुर देखती जीवी अब भी वहीं खड़ी थी। धूला फिर गरजा—"तू मेरे सामने से चली जा! नहीं तो अभी खबर पड़ जायगी, समझी।" और जीवी ऐसे खड़ी थी जैसे इस 'खबर पड़ने' को देखने के लिए ही खड़ी हो। खाट पर बैठा धूला अन्तिम चेतावनी दे रहा था कि इतने में ही घर से नानी बुढ़िया आ पहुँची। जीवी को घर की ओर धकेलती हुई धूला को बुरा-भला कहने लगी—"यदि इस बात पर हाथ न उठाया होता तो क्या तेरी बहादुरी का पता न चलता?"

परन्तु यदि सच पूछा जाय तो धूला को लोगों के सामने अपने

१. ऐसी वस्तु कान में लगाना, जिससे सुनाई न दे।

व्यक्तित्व का परिचय देना था। जब से जीवी आई थी तभी से लोग उसका मज़ाक उड़ाने लगे थे—"रूप का टुकड़ा तो लाये हो धूला भाई, पर देखना ज़रा भारी पड़ेगा।"

धूला मूँछों पर ताव देता हुआ जवाब देता—"भारी-भारी क्या कहते हो, यदि कुछ ही दिनों में सीधा न कर दूँ तो मेरा नाम धूलिया नहीं। उसकी मजाल नहीं जो तनिक भी इधर-उधर करे।"

और जब कोई आज के पराक्रम की बात यों पूछता—"सुना है कि घर में मार-पीट कर डाली धूला ?" तो उसे कुछ शरम भी आती। गरदन हिलाते हुए गम्भीरता से जवाब देता—"अभी हुई कहाँ है, अब होगी।" कारण, इससे धूला को सन्तोष नहीं हुआ था। क्योंकि न तो जीवी दरवाज़े के बीच में बैठकर चीख़ी थी और न गुस्सा होकर बाहर ही निकली थी। इससे तो उलटा उसका असन्तोष बढ़ा ही था। गाँव के लोगों को अड़ोसी-पड़ोसियों के कहने से पता चले तो मारना किस काम का है। मारना तो तभी सार्थक है न, जब कि लोग जीवी का विलाप सुनकर इसका अनुभव कर लें कि धूला ने मारी है। और यह सोचकर वह मन में कहता—'अच्छी बात है, दुबारा मौका आने दे। तब तेरी खबर लूँगा।' और इसके बाद दुबारा कब मौका मिले और कब उसका पानी उतारे, इस उधेड़-बुन में जीवी की उस दिन की निश्चल मूर्ति का स्मरण करके बड़बड़ाता—'अरे जा, मैंने ही भूल कर दी। अब क्या होता है ? नहीं तो मुझे उसी समय सीधा कर डालना चाहिए था। अच्छी बात है—अबकी बार अवसर मिलने दो, फिर देखना तमाशा।'

और धूला को यह अवसर चौथे दिन शाम को ही मिल गया। जिस समय वह कुए वाले खेत पर बैठा था उसी समय उसके पड़ोसी रेशमा ने कहीं से खबर लाकर दी कि फलाँ दिन शाम के वक्त जीवी गाय खोजती-खोजती कानजी की झोंपड़ी पर गई थी। ऊपर से उसने यह

भी कहा—"देखने वाले व्यक्ति का कहना था कि वह पूरी पाली[1] मक्का पिसने तक झोंपड़ी से बाहर नहीं निकली थी।"

यह सुनकर धूला आग-बबूला हो गया। एक ओर उसे कानजी का डर लगता था तो दूसरी ओर उसका मालिकपन लजाता था। 'तो जो-कुछ होना हो सो हो।' कहता हुआ वह घर आया। जीवी को ढूँढ़ मारा; पर वह घर में कहीं न दिखी। बुढ़िया से पूछा तो पता चला कि पानी भरने गई है।

"आने दो, आज उसकी ख़ैर नहीं।" कहता हुआ वह ओसारे में आया।

"लेकिन है क्या? तुझे क्या भूत लग गया है?" पीछे आती हुई बुढ़िया ने कहा।

"भूत तो तेरी बहू को लगा है। उस दिन इतना कहा-सुना, फिर भी राँड·····।"

बुढ़िया बीच में ही बोल उठी—"अपने-आप लोगों में फजीता न कराके ज़रा धीरे से बोल!" और खाट पर बैठे धूला के पैरों के पास बैठकर पूछा—"आज और क्या हुआ है?"

धूला ने धीरे से, पर गुस्से में, सुनी हुई बात कह दी। आगे बताया—"यह राँड कोई मुझसे थोड़े ही ब्याही है। यह तो उस छला से·····।"

बुढ़िया ने बीच में ही टोका—"लोगों की बातों में न आकर चुप रह! लोग तो तिल का ताड़ बनाते हैं। उसमें उनके बाप का क्या जाता है? यदि मार-पीट की और भाग गई तो उनको उलटा कहने का

१. बम्बई में चार सेर का एक तोल का परिमाण। एक पाली, दो पाली के हिसाब से ही वहाँ अनाज तुलता है। ब्रज में भी ऐसा प्रयोग होता है। अक्सर गाँव में स्त्रियाँ कहती हैं—'एक ढैया (ढाई सेर) पंसेरी (पाँच सेर) मक्का पिस गई, पर उसकी बातें खत्म न हुईं।'

मौका मिल जायगा। फिर बिना औरत के सिर फोड़ता रहेगा तो तू रहेगा। इसमें उनका क्या जायगा। ले, तू अब खेत पर जा! ढोरों के आने का वक्त हो गया है। किसी के ढोर घुस गए तो पाँच मन का सफ़ाया कर देंगे। उठ, खड़ा हो!" कहकर बुढ़िया ने बड़बड़ाते हुए धूला को उठाकर खेत को रवाना किया। पीछे से फिर कहा—"लोगों की बातों में आओगे तो भीख माँगते फिरोगे। आजकल का समय तो ऐसा है कि आँखों-देखी बात भी झूठी हो जाती है।"

बुढ़िया ने धूला का खाना भी छोटे लड़के के द्वारा कुए पर ही पहुँचवा दिया। दूसरे दिन तो धूला का गुस्सा भी 'अच्छी बात है, अबकी बार तो छोड़े देता हूँ, पर आगे से यदि तूने फिर ऐसा किया तो देखना! इस कानियाँ के पास जाने की तेरी जनम-भर की आदत न छुड़ा दूँ तो याद रखना कि धूलिया क्या कहता था?' इन शब्दों के साथ ठण्डा हो गया। उसने बुढ़िया को भी चेतावनी दे दी—"अब की बार तो ग़म खाये जाता हूँ, पर यदि आगे से कोई ऐल-फैल देखने में आये तो जीती न छोड़ूँगा, समझी?"

दूसरी ओर गाँव में भी तरह-तरह की बातें हो रही थीं, पर इसमें सत्य क्या था इसे तो जीवी और कानजी दो ही जानते थे। जीवी गई तो थी गाय ढूँढ़ने ही, पर सामने कानजी की झोंपड़ी देखी तो उससे जाये बिना न रहा जा सका।

कानजी झोंपड़ी में बैठा-बैठा तँबूरे के टूटे हुए तारों को बदल रहा था। जीवी को देखते ही चौंक उठा। इधर-उधर नज़र डाली। एक ओर सन्ध्या का गुलाबी रंग काला पड़ रहा था; दूसरी ओर गाँव को घेरता हुआ धुआँ भी जमते अँधेरे को गहरा कर रहा था। कानजी बोल पड़ा—"क्यों? तू कहाँ से····? इस समय?"

"गाय खोजने निकली हूँ।" झोंपड़ी की बल्ली पकड़ते हुए जीवी ने कहा। तँबूरे पर नज़र डालकर हँसती हुई बोली—"बावाजी बनने की तैयारी कर रहे हो क्या?"

"तू मेहरबानी करके या तो अन्दर आ, या फिर वापस जा ! बेकार·····"

कानजी के उतरे हुए मुँह को देखकर जीवी और भी ज्यादा हँसी और उसे तंग करने के इरादे से ही झोंपड़ी में घुसती हुई बोली—"इसमें इतना घबराते क्यों हो ? लो, मैं यह अन्दर आ गई !"

"लेकिन·····लेकिन इस समय तू यहाँ आई क्यों ? तेरी गाय कहीं यहाँ झोंपड़ी में तो····"

जीवी को कुछ दुःख तो हुआ, पर उसने अपना विनोदी स्वभाव न छोड़ा। बोली—"यदि दर्पण हो तो जरा अपना मुँह तो देखो !" और जैसे स्वगत-कथन कर रही हो ऐसे कानजी पर तरस खाती हुई कहने लगी—"कहाँ वह अल्हड़ बछड़े-जैसा मुँह और कहाँ यह गरीब गाय-जैसा मुँह ?" कानजी की ओर देखते हुए कुछ क्रोध के साथ फिर बोली—"यों हक्का-बक्का होते तुम्हें लाज भी नहीं आती ? ऐसा क्या है, जो तुम इतने ज्यादा डरते हो ? क्या कोई औरत अपने खेत पर जाती ही नहीं !"

"नहीं-नहीं, मैं कोई अपने लिए थोड़े ही डरता हूँ।" कहता हुआ कानजी जैसे होश में आ गया हो या अपने पहले व्यवहार के लिए पश्चात्ताप कर रहा हो, ऐसे हँसा। बोला—"मैं तो तेरे लिए·····! उस बन्दर को पता लगेगा तो फिर मार-पीट करेगा इसीलिए, नहीं तो मुझे और कोई·····।"

"लेकिन इसमें तुम क्यों घबराते हो ? मैं तुमसे फरियाद करने आऊँ तो कहना। यह तो मुझे तुमसे जरा एक बात पूछनी थी इसलिए मैंने कहा कि लाओ इधर आई हूँ तो इस झोंपड़ी में···।"

"क्या बात है ?" कहकर पीछे हाथ टेकते हुए कानजी जीवी की ओर देखकर हँसने लगा।

कितने दिन बाद जीवी को यह हास्य देखने को मिला था ? वह कानजी को तिरछी नज़र से देखती खड़ी रही। कानजी ने अपनी आँखें

हटा लीं। बीच में पड़े तँबूरे को एक ओर रखते हुए फिर पूछा—"क्या बात पूछती है, यह तो बताया ही नहीं !"

"खाक-धूल। बात क्या पूछनी है, मैं तो यों ही···"

"कैसी चंट है ?" कहकर कानजी ने झोंपड़ी की बल्ली पकड़कर झूलने के लिए तैयार जीवी से कहा—"कहीं तोड़ न डालना !"

"देखो" कहकर जीवी ने और भी वजन डाला। कानजी बोल उठा—"अरे, पागल तो नहीं है। अभी उठूँगा तो फिर ! नखरे न कर, समझी····· सच कहता हूँ।"

"नहीं तो क्या करोगे ?" कहती हुई जीवी की सूरत, उसकी तिरछी नज़र, उमड़ता मद; मन्द-मन्द मुस्कराते होठ, गालों में पड़ते हल्के-हल्के गड्ढे और इस सबके बाद पूरी शरीर की मरोड़ आदि देखकर कानजी को फिर कहना पड़ा—"यहाँ से जाती है कि नहीं ? बात कहनी हो तो फिर किसी दिन मिलना। अब तू जा !"

"लेकिन मुझे वहाँ जाना ही नहीं। बहुत कहोगे तो लो यह बैठी हूँ।" कहती हुई जीवी बैठ भी गई। बोली—"नहीं जाती, जाओ। तुमसे जो हो, सो कर लो !"

"मुझे कुछ नहीं करना देवी ! मैं तुझसे कहता हूँ कि तू जा !" कहकर कानजी ऐसे ज़ोर से होठ चबाने लगा जैसे उसे कोई अकथनीय उलझन हो रही हो। फिर कहने लगा—"उठ, ओ जीवी ! सच कहता हूँ। मुझसे अब···" पर इससे पहले तो वह खड़ा भी हो गया था। पागल आदमी की तरह वह जीवी की ओर मुड़ा। "तो देख···"कहकर हाथ तो बढ़ाये, पर दूसरे ही क्षण उसके उर-प्रदेश पर हल्का-सा धक्का मारते ही, जैसे उसे उठाये ही न लिये जा रहा हो ऐसे झोंपड़ी के बाहर निकल गया।

कुछ दूर जाकर खड़े हुए कानजी ने मीठी नज़रों से घूरती जीवी से कहा—"तभी से मैं कह रहा था न ! अब भी सच कहता हूँ। बाहर निकल !" और जीवी फिर भी "नहीं निकलती, जाओ !" कहकर मुँह

बिचकाती हुई तिरछी नज़रों से देखने लगी तो कानजी को एक ओर चल ही देना पड़ा। जाते-जाते बोला—"तो ले, बैठी रह अकेली!"

जो झोंपड़ी में भी न समा सके, ऐसा भारी निःश्वास छोड़कर जीवी बाहर निकली। मुँह नीचा किये हुए ही गाँव की राह पकड़ी। कानजी ने उसे दो बार बुलाया तो न रुकी, पर तीसरी बार बुलाया तो झट खड़ी हो गई। कानजी का मुँह भारी हो गया था। ज़ोर से साँस लेकर नीची निगाह किये हुए ही वह बोला—"देख जीवी! मुझे बहुत दिन से तुझसे एक बात कहनी थी। मैंने तुझे यहाँ लाकर भारी भूल की है, लेकिन अब उसमें सुधार नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी यह सच है कि आज से हम दोनों ऐसे रहेंगे जैसे एक-दूसरे को पहचानते ही न हों। इसीमें तेरा और मेरा दोनों का भला है।" कहकर कुछ रुका। जीवी का निःश्वास सुनकर फिर बोला—"तुझ पर क्या-क्या बीतती है, यह सब मुझे मालूम है, परन्तु····परन्तु अपने दिल की बात मैं किससे कहूँ! लेकिन अब तो···" फिर बात बदली—"आज तो तू यहाँ आई सो आई, पर अब फिर इस ओर····"

"नहीं आऊँगी।" कहकर कानजी की ओर एक ज्वालामयी दृष्टि डाली और पीठ फेरकर चली गई।

कानजी अपने हाथ बगल में दबाये जीवी की पीठ को बेहोशी-सी में देखता हुआ बड़ी देर तक वहीं खड़ा रहा। होश आने पर खेत के चारों कोनों पर नज़र डाली और गाँव की ओर चला। मस्तिष्क में कई हज़ार विचार उठ रहे थे। तरह-तरह के सवाल-जवाब हो रहे थे। उनमें से मुख्य तो यही था—'मैं इसे यहाँ लाया ही क्यों!' और पश्चात्ताप करता हुआ स्वगत कहने लगा—'आँखों के आगे लाकर उलटा दुःख ही बटोरा है।' साथ ही यह भी सोचा—'धूलिया की ऐसी-तैसी! मियाँ-बीवी राजी तो क्या करेगा काजी! दुनिया भले ही कुछ कहे। और वैसे भी क्या नहीं कहती!' लेकिन इतना होने पर भी उसका जी तो चटखता ही था—'नहीं-नहीं, उस दिन भगतजी कहते थे—'कानजी,

जीवी को लाया है तो लाने की लाज रखना।'

गाँव में घुसते ही कानजी ने अपने मरे हुए माँ-बाप की कसम खाते हुए निश्चय किया—'चाहे दुनिया इधर-से-उधर हो जाय, पर मैं कभी जी नहीं बिगाड़ूँगा। आज से उसकी ओर आँख तक न उठाऊँगा।'

लेकिन कानजी का यह विचार और मन्थन कोई दुनिया की जानकारी में थोड़े ही था। उसने ऐसी-ऐसी बातें कीं, जिनका कि कोई अस्तित्व ही न था। जब वे बातें भगतजी के कान में आईं तो उन्होंने भी बात-ही-बात में कानजी से कह दिया—"शरीर बिगड़ जाय, यह बात तो मेरी समझ में आती है भाई! क्योंकि देर-सबेर नई चमड़ी आ जाती है, पर यदि जी बिगड़ जाय तो उस पर लगा दाग़ दूसरे जनम में भी नहीं छूटता।"

"सच बात है भगतजी!" कहकर कानजी विचार-मग्न हो गया। उसे यह समझते देर न लगी कि भगतजी ने यह उदाहरण उसीके लिए दिया है। उस दिन से उसने पक्की गाँठ बाँध ली—'आज से जीवी को मेरी आखिरी राम-राम।' और मन-ही-मन भगतजी से कहा—'यदि आज से कभी उसका नाम भी लूँ तो कानजी से 'फट' कह देना भगतजी!'

और उस दिन से कानजी ने जीवी पर से जैसे मन ही उठा लिया। कभी बराबर वालों की मण्डली में बैठा होता और जीवी आ जाती तो वह उठकर चल देता और अगर बैठा भी रहता तो उससे बात करना तो दूर, उसकी ओर देखता तक नहीं। जहाँ तक उससे होता, उसकी ओर पीठ ही रखता। दूसरों से की गई बातचीत में 'क्या घुमा-फिराकर भी अपने लिए कुछ कहता है?' के लिए निरन्तर परेशान रहने वाली जीवी को बिलकुल निराश होना पड़ता।

और कानजी की ओर से होती आने वाली अवहेलना से जीवी का दुःख कई गुना बढ़ गया। मन-ही-मन कहती थी—'ऐसा आदमी तो कहीं देखा ही नहीं। कौन कितने पानी में है, यह क्या गाँव में

किसीसे छिपा है। लेकिन कोई भी इतना ज्यादा अलग तो नहीं रहता।' और मानो सोचती कि कब कानजी मिले और कब कहूँ—'यों सामने देखने से ही पाप लगता है तो आधी रात को बुलाने क्या झख मारने के लिए गये थे।'

लेकिन कहे तो तब न, जब कि कानजी सामने मिले? जीवी को बहुत दिनों बाद देखता तो या तो पीछे लौट जाता या दूसरे रास्ते से निकल जाता। जीवी मन में सोचती—'छाया पड़ जाती होगी।' और एक दिन किसी बात के प्रसंग में पाँच-सात जनों के बीच में उसने कह भी डाला—"बड़ी-बड़ी बातें ही करते हो हीरा भाई! मुँह पर मूँछें तो मर्द की हैं; पर कलेजा तो पिड़कुलिया का ही लगता है।" जीवी ने कहा तो हीरा को लक्ष्य करके था, पर देखा था कानजी की ओर ही। लेकिन कानजी ऐसे चुप रहा जैसे बहरा हो—न हँसा, न जीवी की ओर देखा। जीवी को खूब गुस्सा आया, पर क्या करे? धूला की मार और सास की कलह सह सकती थी, पर कानजी की यह उदासीनता उसके हृदय को काटे खाती थी।

कानजी को जब वह दूर से देखती तो उसका हृदय जैसे तड़प उठता—'और तो कुछ नहीं···न बोले तो भी कोई बात नहीं, पर आँख उठाकर कभी सामने तो देखे! मैंने तेरा ऐसा क्या बिगाड़ा है।' और आजकल तो उसकी आँखें भी भर आती थीं।

नवाँ प्रकरण

●

वियोग की वेदना

गेहूँ की फसल पर गुलाबी किरणें फैलाता हुआ जाड़े का सूरज निरन्तर ऊँचा चढ़ रहा था। रात के अँधेरे में पौधों की फुनगियों पर आकर बैठी हुई ओस की बूँदें धीरे-धीरे लुप्त हो रही थीं। सिर पर मटका और बगल में कलसिया दबाए, धोती के पल्ले में हाथ छिपाती पनिहारिनों की पंक्ति भी कुए की ओर जाने लगी थी। इक्के-दुक्के खेतों से पुर की 'चिकरुक-चिकरुक' आवाज़ भी आने लगी थी।

कानजी तथा हीरा अभी झोंपड़ी में ही थे। बीच के अलाव में एक भारी लक्कड़ जल रहा था। दोनों ओर पूलों की शैया पर बिछी गुदड़ियाँ भी अभी ज्यों-की-त्यों थीं।

गुदड़ियों में लिपटे हीरा तथा कानजी हुक्के का आदान-प्रदान कर रहे थे। सहसा नज़दीक के पुर की आवाज़ कान में पड़ी।

"ले चल, उठ हीरा, मुझे पुर जोड़ दे और फिर घर जाना हो तो जा! इतने में तो यह एक नख[1] पूरा कर दूँगा।" कहता हुआ कानजी खड़ा हो गया। "मैं उस नख के नाके····"

"अरे, तू एक बार पुर जोड़ तो सही! इस अधूरी को पूरी करके ही

१. खेत का वह एक हिस्सा, जिसके दोनों ओर सरसों रहती है।

मैं घर जाऊँगा। फिर तू अकेले ही लगे रहना!" कहता हुआ हीरा भी खड़ा हो गया।

"यही ठीक है।" कहकर कानजी झोंपड़ी के बाहर निकला।

जँभाई के साथ अँगड़ाई लेते हुए हीरा बोला—"ओहो! दिन तो काफी चढ़ गया है।"

"नहीं तो क्या तेरी वाट देखता बैठा रहेगा!" कहकर हँसता हुआ कानजी दाईं ओर मुड़ा। खेत की मेंड़ पर पचैया[1] दिये हुए दो बैलों को लाकर पुर में जोत दिया। बैल कद में भले ही छोटे हों, पर ताकत में तो ये वन में घूमते साँड़-जैसे थे। इसीलिए तो कानजी के इन बैलों के बारे में यह कहावत-सी बन गई थी—'बैल देखने हों तो जाओ कानजी खुशाल[2] के यहाँ।'

कानजी ने पुर भरकर दोनों हाथ बैलों की पूँछ पर रखे। जमीन से सटे हुए मुँह रखकर चलने वाले बैलों ने ऐसे सपाटे से पुर खींचा जैसे वे खाली पुर खींच रहे हों। दूसरा पुर निकाला, पर तीसरे पुर पर तो उसने बैल खड़े कर दिए। पारछे की बग़ल से एक पत्ते की पुड़िया निकालकर गरीली की धुरी में थोड़ा-थोड़ा कोयले का चूरा भर दिया। और इसके बाद तो इस गरीली से उठती हुई मधुर ध्वनि के साथ कानजी ने दोहा गाना भी शुरू कर दिया।

पुर के साथ गाये जाने वाले दोहों का ढंग ही ऐसा है कि इस पद्धति का अभ्यासी कोई भी व्यक्ति गद्य को भी पद्य बनाकर गा सकता है। इस ढंग से अनेक युवक मन को बहलाने वाले दोहे गाते। लेकिन जब कानजी गाता तब तो बहुत-से आदमी यह मान ही नहीं सकते थे कि कानजी अपने निजी दोहे गाता है। बहुत-से उससे सीखने के लिए मिन्नत भी करते। कानजी कहता—"अरे भाई, वह तो उस समय तरंग आई थी सो गा दिया। अब मुझे याद थोड़े ही है कि तुम्हें सिखा दूँ!"

१. लम्बी रस्सी, जिससे बाँधकर जानवरों को चरने छोड़ देते हैं।

२. 'खुशहाल' का अपभ्रंश, खाते-पीते किसान के लिए प्रयुक्त।

फिर भी लोग न मानते, पर जब रोज़ के नये-नये निकलने लगे तब तो मानना ही पड़ा। किसी-किसी सन्देहशील ने तो कानजी के पास से गजरा-मारू, सदावन्त साँवलिया, रासारिसालु और भजनों आदि की पुस्तकें ले जाकर भगतजी से बँचवाकर भी देखीं। लेकिन उनमें वे दोहे हों तो मिलें। और जो कुछ थे भी, वे सारी दुनिया को मालूम थे। परन्तु कानजी के दोहों का असली मज़ा तो तभी आता था जब वह पूरे रंग में होता था।

हीरा का खेत पनघट से काफ़ी दूर था। लेकिन वहाँ से खड़े होकर गाँव के ढाल से आती पनघट की पूरी पगडंडी और कुआ सभी दिखाई देते थे। पानी की खेप भरकर चली जाने वाली युवतियों को नज़दीक से देखने की अपेक्षा दूर से देखने में ही वास्तविक आनन्द आता है। कभी सामने से आती युवती से बात करती क्षण-भर रुके तो कभी कन्धे पर पड़ी हुई रस्सी का चाबुक मारकर सामने वाली के प्रहार को झेले; अकेली हो तो इधर-उधर गरदन घुमाकर जेहर को हवा में घुमाती आस-पास नज़र डाले। लेकिन यह सब तो तभी देखने को मिल सकता है जब देखने वाला व्यक्ति दूर हो।

पनघट की इस हरी-भरी बाट को देखकर कानजी आज बहुत दिनों बाद रंग में आया था—

मीत ! शीत की वायु ते, जातु करेजो काँपि।
पै जोबन की वायु ते, रखि न सकत हम चाँपि॥

एक ओर की मेंड पर पानी देते हुए हीरा ने समर्थन किया—"यह वायु तो कुछ और ही है भाई!"

"चल मेरे वीरा!....." कहकर कानजी ने पुर की 'चिकरुक-चिकरुक' आवाज़ में फिर अपना मुक्त स्वर मिला दिया—

मीत ! मुठी भर जनम में, है यह कैसी बात।
जो वियोग के दुखद पल, जुग सम हमें लखात॥

हीरा फिर बड़बड़ाया—'ऐसे न लगें तो फिर वियोग कैसा?'

सवेरे से ललकारते हुए कानजी के इस आखिरी दोहे ने तो पानी

भरने आई जीवी के हृदय में उल्का-पात मचा दिया। पनिहारिनों में से एक ने तो कहा भी—"काना भाई! इतना ज्यादा क्यों खिल रहा है!"

"तुझे देखकर ही।" दूसरी ने मज़ाक किया।

"नहीं भाई, अपने में ऐसा क्या रूप समाया है जो कोई मोहित हो जाय, और वह भी ऐसा कि दोहे गावे!" जीवी की ओर कतराती आँखों से देखती हुई पहली बोली।

लेकिन जीवी का जी आज अपने वश में न था। जैसे उसे कोई खींच रहा था—गला फाड़-फाड़कर जैसे उसे कोई बुला रहा था। कहता था—

मीत! नयन भये बावरे, लम्बो बेनी आस।
सोचतु, आवेगो कबहुँ, बेनी वारी पास॥

जीवी ने खाली जेहर एक ओर रखते हुए हीरा की बहन नाथी से कहा—"मैं ज़रा चील[1] का साग तोड़ लाऊँ!"

"कहाँ से तोड़ेगी?"

"इन्हीं खेतों से।"

और जैसे परमात्मा ने ही कहलाया हो ऐसे नाथी बोली—"इसकी अपेक्षा तो मेरे ही खेतों में चली जाओ न! घड़ी-भर में तोड़कर आ जाओगी।"

"यहाँ देखूँ तो सही। न मिलेगा तो फिर वहाँ चली जाऊँगी।" कहकर जीवी बगल के खेत में घुसी।

"तब तक मैं एक जेहर डाल आऊँ!"

"अच्छी बात है। लेकिन जल्दी लौटना!" कहकर जीवी ने खेत में प्रवेश किया।

और फिर तो नीचे झुककर चील तोड़ती और उसे पल्ले में रखती हुई जीवी नाक की सीध में चली जा रही थी। 'कोई देख रहा होगा?' 'क्या कहेगा?'-जैसी जो खटक थी वह भी अब जाती रही थी। क्षण-भर

१. विशेष प्रकार की भाजी या तरकारी।

में ही उसका अंग-प्रत्यंग, हृदय की धड़कन और उसका समग्र आत्मा दोहे के भावार्थ में समा गए थे। अगले दोहे की खोज में उसका दिल जैसे बोल रहा था—द्रवित हो रहा था—'लम्बी वेणी वाली की उसको चाहना थी।' और दूसरे दोहे को कान लगाकर सुनने लगी—

बन्धु, चलत पथ में मिली, बेनी वारी आय।
भई कठिन हिय तें लिपटि, लम्बी बेनी हाय॥

जीवी को क्षण-भर के लिए शंका हुई—"न जाने किसकी बात होगी।" लेकिन अन्तर की गहराई में उसे विश्वास था कि कानजी आज यह सब उसीके लिए कह रहा है। वह अपने दिल की हविश निकाल रहा है। जीवी ने भी मन में कहा—'हृदय से लिपट गई थी तो फिर क्यों उस वेणी को स्वीकार न किया? किसने मना किया था?'—तभी फिर पुर चालू हुआ। दोहा सुनाई दिया—

कजरारी मेरी आँख में, फुली परी जनु होय।
बेनी अरु वाकी चाह सब धुँधरी दीसै मोय॥

और जैसे इस शोक में डूब गए हों ऐसे बैलों को पीला पड़ता देखकर कानजी ने "चल मेरे वीरा....." कहकर उनकी पूँछ पर हाथ रखा। पुर के कुए में उतरते समय फिर पनघट की ओर देखा। जीवी को उसने दूर से ही पहचान लिया था। इस समय वह एक खेत की मेंड़ पर आ पहुँची थी। हवा में लहराते उसके आसमानी पोमचे[1] को वह क्षण-भर तक देखता रहा। आज बहुत दिन बाद दोनों की नजरें एक हुई थीं। शर्म के मारे कानजी की नज़र नीची हो गई। जब कि जीवी तो अब भी अपनी नुकीली आँखों से झिड़की की वर्षा कर रही थी। मानो उसका मन कह रहा हो—'कहाँ बदला है? जैसा था वैसा ही तो है।' होश आते ही फिर चील तोड़ने लगी।

पुर चालू हुआ लेकिन अब की बार कानजी दोहा न गा सका अभी यहाँ आयगी, इस आशा से उसने दूसरा पुर भी खाली कर दिया,

१. रंगीन फरिया।

पर जीवी तो अब तक जहाँ की-तहाँ अड़ी थी। कहीं ऐसा न हो कि वह बिना मिले वहीं से पनघट की ओर चल दे। इस डर के लगते ही कानजी से बिना बोले न रहा जा सका—"क्यों बिना मिले जाने का विचार है क्या?" पुर भरते हुए कानजी ने पूछा।

उखाड़े हुए चील की जड़ें तोड़ती हुई जीवी बोली—"हाँ, तुम्हारी आँखों में तो अब फुली पड़ गई है और धुँधला-धुँधला दिखाई देता है। ऐसी हालत में पास आकर क्या करूँ?"

भरे हुए पुर को दूसरी बार खींचकर देखते हुए कानजी ने कहा—"यह ठीक है, पर जब अमृत का कुप्पा मरे हुए को जिला देता है तब क्या उससे मेरी इतनी-सी फुली नहीं मिटेगी?"

"जिससे फुली पड़ी है उससे वह उलटी बढ़ेगी या कम होगी।" कहकर कानजी की ओर देखती हुई जीवी ने फीकी हँसी हँसी।

कानजी ने फिर बरत[1] खींची। बोला—"लेकिन क्या तुझे मालूम है कि जब बिच्छू काट लेता है तो उसके ऊपर उसीका डंक घिसकर लगाने से तुरन्त सारा जहर चुस आता है। यह भी ऐसा ही है।" कहकर उसने जीवी को देखा और हँसने लगा। होश आने पर बैलों की पूँछ पर हाथ रखता हुआ बोला—"मैं अभी वापस आता हूँ!"

चील तोड़ती जीवी भी पारछे की दूसरी ओर आ खड़ी हुई। कानजी भी लौटकर आ खड़ा हुआ। परन्तु इस समय दोनों गूँगे बन गए थे। कुए में डुबकी खाते पुर की अपेक्षा सब-कुछ शान्त था। दोनों को बोलना था, पर पहले शुरू कौन करे!

जीवी की ओर देखते और बेहोशी-सी में पुर को ऊभ-चूभ कराते रहने वाले कानजी को देखकर जीवी को हँसी आ गई। बोली—"मेरी ओर टुकुर-टुकुर क्या देख रहे हो!" और पल्ले की भाजी को ठीक-ठाक करती जैसे जाने की तैयारी कर रही हो ऐसे कहने लगी—"अच्छा बताओ, रोके रखकर क्या कहते थे!"

१. पुर खींचने का मोटा रस्सा।

जीवी के अंग पर प्यासी होने पर भी एक प्रकार की तृप्ति-भरी दृष्टि डालते हुए कानजी हँसकर बोला—"बस इतना ही। तुझे जी-भर देखना था। दो बोल सुनने को मिले तो बेचारे जी को जरा···" कानजी हँस पड़ा। पर इस हास्य को देखकर जीवी को उलटा दुःख ही हुआ। पुर के सिरे पर बँधी बरत को गरीली पर उछालते हुए कानजी ने कहा—"इससे ज्यादा कहूँ भी क्या? कहने योग्य मैंने रखा ही क्या है?" और जीवी की ओर देखे बिना ही बैलों को हाँक दिया।

परन्तु जीवी तो अब भी खड़ी थी। वापस लौटते हुए उसने कानजी से पूछा—"क्यों, क्या मुझ पर बहुत गुस्सा आ रहा है?" और जैसे उत्तर की प्रतीक्षा कर रही हो ऐसे बगल में खड़े घोंटू बराबर गेहूँ के पौधों से खेल करने लगी।

"गुस्सा आने लायक तूने किया ही क्या है, जो गुस्सा आयगा। गुस्सा तो उलटा तुझे आना चाहिए।" कहकर कानजी ने ज़ोर से साँस ली।

"तो फिर इतने दिन से मुँह मोड़कर क्यों घूम रहे हो?" और कानजी को चुप देखकर व्यंग्य में पूछा—"लोगों का डर लगता होगा, क्यों!"

कानजी ने बैलों की रास छोड़ दी। पारछे से बाहर निकलते हुए 'यह भी ठीक है' कहकर हीरा को पुकारा—"हीरा, ले जरा तमाखू भर ले!"

"यदि ऐसा ही था तो आधी रात के वक्त बुलाने नहीं आना था।" जीवी ने आज कह ही डाला और हल्के गुस्से से कानजी की ओर देखने लगी।

खीसे[1] में से तमाखू निकालते हुए कानजी ने कहा—"यह सब तो ठीक है, पर जो भूल कर बैठा हूँ उसका अब क्या हो?" कहकर तमाखू का चूरा करते हुए बोला—"और यदि तुझसे अब भी सुधारी जा सके

१. जेब।

तो सुधार ले !'' कानजी भी कुछ गुस्से में था।

''अच्छा !'' कहकर जीवी ने गरदन घुमाकर पीछे देखा। हीरा अभी जहाँ-का-तहाँ उलझा था।

उसने कानजी की ओर देखते हुए पूछा—''इसका मतलब तो यही है न, कि मैं फिर चौथा मालिक खोजूँ ?''

''चौथा कैसे ?'' कानजी पूछने को तो पूछ बैठा, परन्तु झट कहने लगा—''यदि पट न सके तो चार छोड़कर पाँच भी किये जा सकते हैं। हाँ, यदि ऐसा करने में धूलिया कुछ बाधा डालेगा तो मैं देखूँगा। इसके लिए···''

अँगुली पर गेहूँ की पत्ती लपेटती हुई जीवी ने सहसा ऊपर देखा। ''तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है !'' पूछते हुए तेजोद्दीप्त आँखों से कानजी की ओर देखती हुई बोली—''जीवी कोई पतियों की भूखी नहीं है, समझे ! पति खोजना होता तो खोजना उसे भी आता था।'' कुछ रुककर आगे कहा—''पर वह तो यह कहो कि उसे किसी की लगन लगी थी नहीं तो···''

''अच्छा, अब बहुत हो चुका।'' जैसे असह्य हो गया हो ऐसे कानजी बोला और दूर पर आते हुए हीरा से कहा—''चिलम तो वहाँ होगी न ?''

''तो फिर कमी ही क्या रही है ?'' कहकर जीवी चलने लगी।

गेहूँ की पत्ती तोड़ती और उसके टुकड़े करती जाने वाली जीवी की ओर देखते हुए कानजी की दृष्टि में वह मूर्ति धुँधली होने लगी। दूसरे ही क्षण पास का कुआ दिखना भी बन्द हो गया। कानजी को होश आया। झटपट आँखें साफ़ कीं। देखा तो बगल में चिलम बढ़ाता हुआ हीरा खड़ा है। मुट्ठी में से तमाखू देते हुए कानजी ने कहा—''तो चल, रख ! सूरज तो सिर पर आ गया है पर अभी···''

परन्तु हीरा से पूछे बिना न रहा गया—''यह सब तो होगा, पर तू ऐसा क्यों हो रहा है ?''

"कुछ नहीं रे!" कहकर कानजी हँसा। बोला—"तू जल्दी कर न! यदि आज इतना पानी दे दिया तो···"

"नहीं दिया गया तो कल दे दिया जायगा।" कहकर हीरा चिलम भरने तो गया, पर आज के दृश्य ने—कानजी की आँसू-भरी आँखों ने उसे गम्भीर बना दिया। "आज तो नहीं, पर एक दिन मुझे उसे सौगन्ध खिलाकर पूछना पड़ेगा कि तेरे पत्थर-जैसे कलेजे में यह सब हो क्या रहा है! माया से अलग रहने वाले गीता के भक्त को यह सब क्या जंजाल है!" और चिलम मुँह से लगाकर सिर झुकाए, पैर के अँगूठे से जमीन कुरेदता हुआ कानजी की ओर देखने लगा। और स्वगत कहने लगा—'मान न मान हीरा, पर इसमें कोई बड़ा रहस्य जान पड़ता है। नहीं तो दुःख के पहाड़ टूट पड़े। अरे, अपने बाप के मरने पर भी जिसकी आँखों में आँसू नहीं आये वह यों दिन-दहाड़े टप-टप आँसू गिरा रहा है।'

दसवाँ प्रकरण

●

व्यर्थ प्रयास

उस दिन कानजी से मिलने के बाद से कुछ दिन तक तो जीवी गुम-सुम बनकर ही घूमती रही। लेकिन अन्त में उसे यह शून्यता भी खलने लगी। 'यदि वे मेरे बिना रह सकते हैं तो मैं उनके बिना क्यों नहीं रह सकती?' कुछ ऐसा सोचकर वह लोगों से पहले की अपेक्षा और भी ज्यादा मिलने-जुलने लगी। जहाँ कानजी होता वहाँ तो विशेष रूप से जाती। जवानों का मज़ाक भी उड़ाती।

आज भी जीवी ने ऐसा ही किया। कानजी, मनारे आदि युवक हीरा के यहाँ बैठे थे। जीवी भी वहीं जा पहुँची। बात करने का अवसर पाते ही जीवी बोली—"मनारे भाई, मुँह तो सुन्दर है पर दिल से तो काले हो?" साथ ही एक दूसरे युवक को लक्ष्य बनाया—"ओ हो! उस दिन भजनों में कैसे मस्त हो रहे थे! यों तो भोले-भाले दिखाई देते हो, लेकिन पखावज पर तो ऐसे उछल-उछलकर भजन गा रहे थे जैसे तुम्हीं गोपियों के साथ रास कर रहे हो।"

और यह सुनते ही कानजी ने न जाने क्यों जीवी की ओर कड़ी निगाह से देखा। लेकिन जीवी की तो उसकी ओर पीठ ही थी। कानजी का क्रोध बढ़ गया और मनारे आदि को जीवी से बातें करते देखकर तो

वह वहाँ ज्यादा देर बैठ भी न सका। उसने चलते-चलते ही जीवी की ओर देखा, पर जीवी ने न तो पलक उठाये और न बात करना बन्द किया। उसने अपने मन में कहा भी—'साली, यह तो बिलकुल बेहया लगती है। मैं व्यर्थ 'जीव-जीवी' किया करता हूँ। अच्छी बात है। अब यदि कहीं सयानपन करने आई तो देखना, ऐसी सुनाऊँ कि बोलती बन्द हो जाय!'

और इसका अवसर उसे उसी दिन मिल गया। शाम के वक्त कानजी और हीरा खेत की ओर जा रहे थे। सामने से जीवी भी पानी भरकर आ रही थी। नज़दीक आते हुए हीरा से वह मटककर बोली—"ओहो! किसके ऊपर इतना बड़ा सीना निकालकर चल रहे हो हीरा भाई!"

कानजी से बोले बिना न रहा गया। जीवी पर एक कड़ी नज़र डालते हुए कहा—"अपने निज के ऊपर। किसी और के ऊपर···"

कानजी की ओर न देखकर जैसे स्वगत कह रही हो ऐसे मुँह बनाकर जीवी बोली—"बिना पूछे, जहाँ देखो तहाँ, बीच में बोलने की आदमी की कैसी आदत होती है?"

और कुछ तिरस्कार के साथ मुँह बिचकाकर चल दी।

लाल-ताते होते हुए कानजी ने हीरा से कहा—"यह नाइन साली इधर बड़ी मुँहफट हो गई है हीरा!"

हालाँकि हीरा को इसमें मुँहफट होने-जैसा कुछ नहीं लगता था, क्योंकि जैसे गाँव की अन्य युवतियाँ और युवक बोलते-चालते थे वैसे ही जीवी भी करती थी; परन्तु कानजी को ताना मारने का अवसर उसने न जाने दिया—"हम तो पहले ही कहते थे कि औरत की जात का कोई भरोसा नहीं। अच्छा पहनने-ओढ़ने को मिले और मनचाहा खाने-पीने को, तो फिर तेरी या मेरी किसी को क्या परवाह है?"

"तो यहीं किसे परवाह है? इस-जैसी कितनी ही देख लीं।" कानजी अब भी गुस्से में था और वह भी इतना कि यदि जीवी दुबारा

सामने पड़ गई होती तो उससे न कहने योग्य बातें भी कह देता।

"तो उसे ही कहाँ तेरी परवाह है ?" कहकर हीरा हँसा।

यह वाक्य कानजी को असह्य हो गया। कहना चाहा—'परवाह न होती तो आधी रात को पीछे-पीछे न आती, समझे !' पर उसने अपनी जीभ को तुरन्त काबू में कर लिया। और "ठीक है" कहकर जोवी के प्रति उसकी लगन को सदा के लिए समाप्त हुआ देखने की इच्छा रखने वाले हीरा के मनोरथ को उसने धूल में मिला दिया।

हीरा ने बात फिर उखाड़ी—"तो भी दो दिन बाद तू फिर उसके ऊपर दोहे जोड़ने लगेगा।" और कानजी को चुप होता हुआ देखकर आगे कहा—"तब तो न फूलती होगी तो भी फूल जायगी ?"

जवाब में कानजी ने एक भारी साँस ली। नीरस हँसी हँसता हुआ वह बोला—"तू भी क्या बात करता है ? इसके कारण क्या कोई दोहा गाना बन्द कर देगा। और यह कैसे जाना कि मैं इसीके लिए गाता हूँ ? यह तो इन चार महीनों से ही यहाँ आई है। इससे पहले मैं किसके लिए दोहे गाता था ?" कहकर कुछ तिरस्कार के साथ हँसा। बड़बड़ाया—"क्या बात करता है ?"

हीरा खीझकर बोला—"अरे भाई, लेकिन गाना। दोहा गाने की कौन मनाही करता है ? और मैं तो कहता हूँ कि उसके नाम के गाने बना। इसमें किसी का क्या जाता है ?" कहकर कानजी की ओर रिसैली[1] आँखों से देखता हुआ कहने लगा—"यह तो लोग बातें करते हैं सो मैं तुझसे कहता हूँ। मैं कोई अपनी ओर से बनाकर थोड़े ही कहता हूँ।"

कानजी ज़रा धीमा पड़ा। हीरा की ओर देखता हुआ बोला—"तो देख, मैं तुझसे साफ कहे देता हूँ···" और अँगुली उठाकर आगे कहा—"मैं लोगों या लोगों के बाप···किसी से भी नहीं डरता और डरने वाला भी नहीं।" दो कदम चलकर फिर खड़ा हो गया और क्रोधपूर्ण

१. क्रोध-भरी।

दृष्टि से हीरा को देखकर बोला—'यह ठीक है कि मैं उसके दोहे बनाता हूँ, पर यदि कल मैं उसे अपने घर में डाल लूँ तो क्या तुम सब मेरे नाक-कान काट लोगे ?"

हीरा ने अनुभव किया—'साला, ग़ज़ब हो गया।' बोला—"लेकिन घर में डालनी है तो यह भी कर डाल न ? तुझे रोकता कौन है ?"

"लेकिन तू भूलता है हीरा ! यह भी कर दिखाता पर···ज़रा ख़याल आ जाता है···इस बन्दर के साथ उसका गठबन्धन न कराया होता तो फिर यह भी कर दिखाता।"

"तो फिर बस ! यों बेकार बकवास क्यों करते हो ?" कहकर हीरा बड़बड़ाया—"और हिम्मत हो तो घर में डाले बिना ही···। लेकिन भाई, यह बच्चों का खेल नहीं है। इसमें जान हथेली पर रखनी पड़ती है।"

"समय आने पर यह भी हो सकता है।" कानजी बोला।

"तो फिर देर क्यों ?" हीरा ने कहा ? और कानजी को चुप देखकर बोला—"पर तुझे तो न ऐसा करना है और न उसका पिण्ड ही छोड़ना है। बता, इसमें तेरा क्या लाभ है ?"

कानजी हीरा के कहने का पूरा अभिप्राय समझता था। भारी साँस लेकर इतना ही कहा—"इसमें क्या लाभ हुआ हीरा ?"

"तो फिर उसका पिण्ड छोड़ !"

कानजी ने फीके ढंग से हँसते हुए कहा—"पिण्ड तो जब से आई है तभी से छोड़ दिया है।"

बड़ी देर तक निस्तब्धता छाई रही।

जैसे किसी विचार से जागा हो ऐसे हीरा बोला—"मैं तो यही सोचता हूँ कि तू इतना भक्त कब से हो गया है ?"

"भक्त हो गया हूँ यह कह या और जो-कुछ मन में आवे सो कह, पर आज बात चली है तो कहे देता हूँ कि यदि करूँगा तो पूरा करूँगा—खुल्लम-खुल्ला उसे घर में रखने के बाद ही उसकी ओर

देखूँगा। नहीं तो भले ही आकाश-पाताल एक हो जायँ, ग़लत रास्ते पर न जाऊँगा।" कानजी एक भारी साँस लेकर होंठ चबाने लगा।

"तो तू जाने!" कहकर हीरा भी कुछ सोचने लगा।

दूसरे दिन हीरा भगतजी की झोंपड़ी पर गया। दोनों जने होले[1] भूनकर नुका रहे थे। हीरा ने बात चलाई—"मानो, चाहे न मानो भगतजी, पर कानजी को कुछ हो गया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि उसने कुछ कर दिया है।"

भगतजी की जगह यदि कोई दूसरा होता तो चने का दाना हाथ-का-हाथ में ही रह जाता और हीरा की शोकपूर्ण मुख-मुद्रा देखकर प्रश्न-पर-प्रश्न पूछने लग जाता— 'उसने अर्थात् किसने? कुछ वह क्या कर सकती है? और कानजी को क्या हुआ है? वह तो घोड़े-जैसा है!' आदि-आदि। पर भगतजी पर इसका रत्ती-भर भी असर न हुआ। हीरा पर एक नज़र डालकर हँसे और होले का दाना मुँह में डालते हुए बोले—"तूने जो कहा सो समझ में नहीं आया हीरा!" और वैसे ही होले चुकाते रहे।

हीरा कुछ खीझा—"यों अनजान बनकर न बोलो भगतजी! उस दिन तुम्हीं न पूछ रहे थे—"आजकल कानजी ने मेरे यहाँ आना-जाना क्यों बन्द कर दिया है? और आज उलटे···"

"हाँ, हाँ, लेकिन उसका है क्या? तू 'वह-वह' करता है, इससे मैं क्या समझूँ?" भगतजी ने हीरा की ओर देखते हुए कहा और फिर होले खाने लगे।

हीरा ने मन में कहा—"सुने बिना क्या अपना सिर समझोगे?" पर इस प्रकार गुस्सा करने पर भी भगतजी तो हँसते ही रहने वाले थे। झोंपड़ी के बाहर एक नज़र डालकर हीरा भगतजी से सटकर बैठ गया। बोला—"यह उस नाइन की ही तो बात है। तुम चाहे जादू-टोने में विश्वास न करो भगतजी! पर मैं तो करता हूँ। मुझे तो लगता है कि

१. कच्चा चना भूनने पर 'होला' कहा जाता है।

उस राँड ने कानजी के ऊपर—चाहे जैसे हो—मोहिनी डाल दी है।"

भगतजी को हँसी आ गई—"यह तूने कैसे जाना ? किसी सयाने को कुछ कहते देखा था या कुछ और।"

"इसमें सयाना क्या कहता भगतजी ? मैं अपनी आँखों से देखता हूँ सो कुछ नहीं ?"

जैसे कुछ भी न जानते हों ऐसे भगतजी ने हीरा की ओर देखते हुए पूछा—"तू क्या देखता है, ज़रा बता तो सही !"

"क्या क्या ? यही कि इस कानजी का दिल इस जीवी से लगा है। पर इसमें...."

"कैसे जाना ! लोग कहते हैं इसीसे न ? लेकिन मुझे तो लगता है कि लोगों की यह बात तनिक भी सच..."

"अरे यदि सच होती तो भी ग़नीमत थी। उसका पाप उसीसे पूछता परन्तु ऐसा—क्षण-भर में तो ऐसा कि एक प्राण और दो शरीर और क्षण-भर में ऐसा कि एक-दूसरे की छाया भी न छुएँ—कभी नहीं होता ? इसमें हमें समझना क्या है ?"

भगतजी हँसते मुख से कुछ देर तक हीरा की ओर देखते रहे। फिर भौहें सिकोड़ते हुए पूछा—"तेरी समझ में क्या आता है ?"

"मैंने तुमसे कहा न कि इस जीवी ने कानजी को कुछ कर दिया है। बिना इसके..... । यह तो हमने इससे भी अच्छी स्त्रियाँ देखी हैं भगतजी ! किसी जगह मैं फिसल गया हूँगा, पर धन्य है कानजी को। रत्ती-भर इधर-से-उधर नहीं हुआ। हाँ, यो हँसी-मज़ाक करता है—अरे, स्थान और समय सब निश्चित करता है पर बाद में जाना-आना राम का नाम है।" और भगतजी की हँसी में अपनी हँसी मिलाते हुए हीरा ने आगे कहा—"तो तुम्हीं कहो भगतजी ! ऐसा आदमी यों बिना जात-पाँत के उसके पीछे अन्धा होकर घूमता है, यह क्या बिना कुछ किये सम्भव है !"

मुख नीचा किये होला नुकाते हुए भगतजी को नकार में सिर हिलाते देखकर हीरा फिर बोला—"तुम मानते नहीं भगतजी, पर ढाक बजवाकर

देखो—यदि तसल्ली करनी हो तो। कानजी के ऊपर जादू-टोना किया हुआ न निकले तो जो चाहो सो लिखवा लो! बोलो, है विचार?" कहकर हीरा भगतजी की ओर देखने लगा।

"तेरी सब बातें सच हैं, पर यह जादू वाली बात झूठ है।" कहकर हीरा की ओर हाथ से इशारा करते हुए बोले— "अरे पगले, औरत के नैनों को तू क्या जाने? महादेव-सरीखे गोते खा गए तो कानजी-जैसों की क्या बिसात है?" भगतजी की आँखों मे हल्की-सी चमक दिखाई दी।

"नहीं, नहीं, लेकिन भगतजी···"

"नहीं।—" भगतजी की भौंहें ज़रा तनीं।— "यह सारी बात झूठी है। औरतों को कभी जादू-टोने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। वे तो खुद ही जादू हैं।" कहकर ज़रा धीमे पड़ते हुए बोले— "तू और कानजी समझते होगे कि भगतजी कुछ नहीं जानते, पर मैं स···ब जानता हूँ। वह मेरे घर क्यों नहीं आता। अभी-अभी तो उसे तँबूरे की लत लगी है। और वह स्वयं भी इसे कहाँ छिपा सकता है? फिर भले ही वह जीवी की ओर न देखता हो पर तो भी गाँव में क्या किसी से छिपा है?" और कुछ देर हीरा की ओर देखकर भौंहें सिकोड़ते हुए बोले— "तू इसे जादू कहता है, पर मैं इसे उससे भी बड़ा ऐसा दुःख कहता हूँ जिसकी कि कोई दवा नहीं। हाँ, ये दोनों एक हो जायँ तो और बात है। लेकिन तब तो यही समझना कि स्वर्ग नीचे उतर आया है। नहीं तो इसके बिना यों रो-गाकर दिन काटने के अलावा और कोई चारा नहीं।" कहकर कोई चमत्कारपूर्ण बात न कही हो ऐसे सिर हिलाते हुए हृदय में साँस भरकर आगे कहा—"यह कोई जादू-टोना नहीं, यह तो एक-दूसरे में हृदय मिले हैं।" कहकर भगत का मुख ऐसा खिल उठा जैसे वे हँस रहे हों।

"लेकिन इसमें तुम ऐसे प्रसन्न क्यों होते हो भगतजी, इसका कोई उपाय खोजो न! यह तो हमने जान लिया कि हृदय मिले हैं, पर इसका कोई उपाय तो बताओ! तभी तो समझेंगे कि भगतजी की सुहबत से कुछ लाभ हुआ।"

"अरे नहीं भाई ! भगतजी के पास ऐसा उपाय होता तो भगतजी स्वयं ही आज स्वर्ग का सुख···" पर तुरन्त भगतजी ने बात बदल दी—"हीरा, इसीका नाम जीवन है। तू क्यों व्यर्थ झमेले में पड़ता है। जो होता है, होने दे और जो देख सके, देख ! उससे न सहा जायगा तो वह स्वयं ही रास्ता···"

इस समय हीरा को भगतजी पागल-जैसे लगे। वह चिढ़कर बोला—"अरे क्या पागल हुए हो भगतजी ! सोचो कि कोई कदम उठाया····दोनों ने घर-गृहस्थ बसा लिया लेकिन बाद में जात-पाँत, नाते-रिश्तेदार···इन सबका क्या होगा। और फिर उनके बच्चों का···"

"लेकिन भले आदमी ! तू भगवान् को तो मानता है न ? तो यह सब उसीके ऊपर छोड़ दे ! व्यर्थ···"

"अरे छोड़ दिया भगतजी ! लो रहने दो अपनी चतुराई। तुम तो उनमें से हो जो सीधे की जगह टेढ़ा रास्ता दिखाते हैं। लोग जो कहते हैं सो झूठ थोड़े ही है। आज से तुम्हारे पास बैठना ही नहीं।" कहकर हीरा ने अपना स्याह-काला मुँह एक ओर फेर लिया।

भगतजी की जगह और कोई होता तो 'अच्छा, चल-चल, न बैठना ! तुझे बुलाने ही कौन गया था ?' कहकर हीरा को फटकार देता, परन्तु ऐसा करने के बदले वे तो हँस ही रहे थे। जैसे हीरा पर तरस खा रहे हों ऐसे बोले—"यह तू क्या कहता है हीरा ! क्या मैं तेरा और कानजी का बुरा होते देखकर प्रसन्न हूँगा ? तुम दोनों का ही क्या, मैंने किसी राह चलते का भी बुरा चीता हो तो बता !"

"ऐसा तो कुछ नहीं, पर तुम कहते हो न कि जो-कुछ होता है सो होने दो। क्या तुम्हारे-जैसे पढ़े-लिखे आदमी को ऐसा कहना चाहिए ?"

"पढ़ा-लिखा हूँ, इसीलिए तो ऐसा कहता हूँ हीरा !" कहकर भगतजी हँसने लगे।

"कुछ नहीं भगतजी ! तुम अकेले आदमी हो इसलिए जो चाहो सो कहो और जो चाहो सो करो, तुम्हारे लिए सब ठीक है, पर हमारे जैसे···"

"मतलब यह कि कानजी की चिन्ता तुझे है, मुझे नहीं; क्यों ?" भगतजी का मुँह कुछ उदास-सा लग रहा था।

"ऐसा तो कुछ नहीं, लेकिन फिर भी तुम···तुम जो ऐसा कह रहे हो उससे भगत जी···!" कहकर हीरा भगत की ओर देखकर हँसने लगा।

"तू तो भला आदमी है ! देख, पीछे बिदकना मत !" कहकर हीरा को चेतावनी देते हुए बोले—"लेकिन यदि तेरी जगह मैं कानजी का साथी होता तो इसी समय जीवी को लेकर उसके घर में बिठा देता।"

गुस्सा करने की गुञ्जाइश न होने पर भी हीरा गुस्सा किये बिना न माना—"अब तुम बिना कुछ कहे चुप रहो भगतजी !" कहकर जैसे स्वगत-कथन कर रहा हो ऐसे धीरे से बोला—"मेरा कैसा दुर्भाग्य है जो तुमसे बात की।"

"लेकिन ले न, अब भी क्या बिगड़ा है। यह तमाखू रख तब तक। तमाखू के धुएँ के साथ तेरी बात का भी धुआँ···।" कहकर भगतजी बगल में पड़ी चिलम को साफ़ करने लगे।

जब कि अन्यमनस्क बना हुआ हीरा ऐसा उदास होकर बैठा जैसे अन्तिम उपाय भी व्यर्थ हो गया हो।

ग्यारहवाँ प्रकरण

●

किस सम्बन्ध से

हीरा ने तो कानजी से रास्ते में कुछ बात न की, पर सवेरे उससे एक आदमी ने कहा—"कुछ सुना कानजी भाई ? क्या तुम नहीं जानते कि रात को धूलिया ने अपनी बहू को पीटा है ?"

"क्यों, किसलिए ?" कानजी का मुँह तन गया।

"किसलिए; यह तो भगवान् जाने, पर दो दिन हुए किसी जगह तुम सब लोग बैठे थे ? कहते हैं कि वहाँ जाकर जीवी सबसे हँसी-मज़ाक कर रही थी। कल रात धूलिया के कान में बात आई होगी। इस पर, कहते हैं, उसने जसे खूब पीटा है।"

"फोड़ेगा साला करम, हमें क्या ?" बड़बड़ाते हुए कानजी अपने घर जाने को उठा। रास्ते के उस छोर पर आती जीवी को देखकर उससे कुछ पूछने की—कल रात की मार के विषय में ही—इच्छा हुई, पर झट 'यह देवी जी भी क्या कम हैं ? ऐसे ही काम करती हैं जिससे कि मार पड़े।' यों सोचकर चुपचाप चले जाने का निश्चय कर डाला। मन को यह भी लगता था—'इसीको बताने की गरज़ नहीं है तो फिर मुझे ही क्या गरज़ पड़ी है जो पू ?'

परन्तु दूसरी ओर जीवी भी कानजी को देखते ही बिलकुल ढीली-सी

हो गई थी। आँखों में कुछ-कुछ आँसू भी छलकने लगे थे। पैर भी बिलकुल शिथिल हो गए थे। लगता था जैसे 'अब गिरी, अब गिरी'। यदि उस तंग रास्ते में छेंड़ी होती तो भले ही घूरे की तरफ क्यों न जाना पड़ता, एक बार को तो जीवी उस छेंड़ी से ही अवश्य बाहर निकल गई होती। आँखों में उमड़ते आँसुओं को रोकने के लिए उसने बहुत-कुछ होठ चबाए और कानजी को मुँह न दिखे, इसके लिए फरिया का छोर भी खींचा, पर सब व्यर्थ गया····

अबोले कानजी से भी बिना बोले न रहा गया—"क्यों, कल रात क्या था?"

जीवी की एक हल्की सिसकी निकल गई। आँखों से टप-टप गिरते आँसू धारा में बदल गए। लेकिन वह बोली कुछ नहीं। खड़ी भी न रही। जैसे ही वह कानजी को छोड़कर आगे बढ़ी वैसे ही एक कठोर आवाज उसके कान में पड़ी—"खड़ी रह!"

फिर भी जीवी दो कदम तो चली ही। परन्तु आगे कदम रखने की उसकी हिम्मत न हुई। वहीं खड़ी हो गई। कानजी ने पीछे घूमकर फिर पूछा—"कल रात क्या झगड़ा था?"

आँखों को पलकों की ओट में रखने का प्रयत्न करती हुई जीवी कठिनाई से कह सकी—"कुछ नहीं था।" और फिर चलने लगी।

"कुछ क्यों नहीं था? खड़ी रह, और जो हो सो सब सच-सच मुझे बता दे!"

कानजी की आँखों में आग थी। आगे-पीछे आती पनिहारिनों का भी उसे ध्यान न था। जीवी को बहरी बनी देखकर वह चिल्लाया—"क्यों, सुनती नहीं? कहता हूँ कि खड़ी रह!"

जीवी फिर रुकी। आँसू-भरी आँखों से उसकी ओर देखने का प्रयत्न किया। रुदन और शब्द दोनों साथ मिल गए—"सब इकट्ठे होकर चारों ओर से क्यों मेरी फ़जीहत···" और एक सिसकी भरकर चली गई।

कानजी गाँव की ओर चला। रास्ते में चलते-चलते बड़बड़ाता जाता था—'ठीक है बेटा ! आज मैं तेरी (धूला की) खबर लेता हूँ। मैं तो सोचता था कि चलो जाने दो, कोई बात नहीं; पर इस तरह तो जनाब सिर पर ही चढ़े जाते हैं।' गाँव में यद्यपि वह चुप था, लेकिन उसकी चाल उसके गुस्से को प्रकट कर रही थी। एक-दो ने तो पूछा भी; पर उन्हें उसने टालू जवाब देकर चुप कर दिया। वह सीधा धूला के घर की ओर ही जा रहा था।

हीरा घर के मुख्य दरवाजे की बगल में अन्दर की ओर बिछी खाट पर बैठा रस्से को जोड़ रहा था।

आँगन से होकर जाते रास्ते पर किसी को सपाटे से जाते देखा। पीठ से उसे सन्देह हुआ—"अरे कानजी जा रहा है या और कोई ?"

"हाँ, क्यों ?" कानजी ने दो कदम पीछे हटकर पूछा। उसकी आँखें लाल थीं। मुँह तमतमा रहा था।

"ऐसे क्यों ?" हीरा बोल उठा। हँसकर कहा—"ले आ ! भगत जी अभी खेत से नहीं आये होंगे।" कहकर खड़े होते हुए आगे कहा—"ला, हुक्का भर लें।"

कानजी ने खड़े-खड़े ही मुहल्ले पर एक नज़र डाली। कतराती आँखों से धूला के घर की ओर देखा। एक भारी साँस लेकर होठ चबाता हुआ द्वार की ओर मुड़ा। द्वार की ओर मुँह किये और पैर लटकाये खाट पर बैठ गया। हाथ की हथेली पर कनपटी रखकर फिर नीचे के होठ को चबाने लगा।

हीरा की बहू कंकु के लिए कानजी की यह गम्भीर मुख-मुद्रा—और वह भी इस सीमा तक—एक आश्चर्य की ही वस्तु थी। "क्यों काना भाई किस सोच में पड़े हो ?" कंकु ने स्तन-पान करते बालक को दूसरी ओर लगाते हुए कुछ डरते-डरते पूछा।

"किसी में नहीं ?" कहकर कानजी ने हीरा से पूछा—"अरे, तू तो हुक्का भर रहा था न ?"

रस्से के साथ गुत्थम-गुत्था करते हीरा ने कहा—"भरता हूँ इस इतने हिस्से को ठीक करके। तुझे इतनी जल्दी काहे की है?"

"ठीक है जो है सो। तू एक बार हुक्का तो भर!" कहकर कानजी दरवाज़े के बाहर देखते हुए छोटी-छोटी मूँछों पर हाथ फेरने लगा।

"लेकिन फिर भी। खेत में किसी का ढोर घुस गया था क्या?"

"नहीं भाई, नहीं।" कुछ चिढ़कर कानजी बोला।

"तो ऐसा गुस्से में कहाँ जा रहा था?"

कानजी की मुद्रा फिर कठोर हुई। बोला—"कहाँ? उस भंगी की खबर लेने। यह साला हज्जाम अपने मन में समझता क्या है?"

"लेकिन हुआ क्या है?" कहकर रस्से को एक ओर डालकर दीवार के सहारे रखे हुक्के को लेते हुए पूछा—"तुझसे कुछ कहा···"

"मुझसे क्या कह सकता था? कहता तो वहीं चीरकर···लेकिन उसे चलते-फिरते मारता है। वह अपने मन में समझता क्या है?"

"लेकिन भले आदमी इससे हमें क्या? उसीकी चीज़ है, कसूर करेगी तो मारेगा ही। इस बात पर हमारा लड़ने जाना क्या शोभा देगा? किसी को पता चल गया तो···"

"तू इस समय मेरे सामने मत बोल हीरा! सच पूछे तो यह सब तूने ही कराया है। मैं कहता था न कि यह दो कौड़ी का आदमी है। बेचारी उलटा दुःख पावेगी। पर···"

"अरे लेकिन भले आदमी! यदि यही कहना है तो कहने के ढंग से ही कहा जायगा न। कहीं इस प्रकार ओट लेकर[1] लड़ने जाया जाता होगा। कोई राह चलता तक कह सकता है कि भाई इसे क्या? और फिर उससे न अपनी जात मिले न पाँत; और न कोई सम्बन्ध। उलटा···"

"सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसे यहाँ लाने वाले तो तू और मैं—ये दो जने ही हैं न? उस बेचारी की कलपती आँतें इस समय क्या कहती होंगी? तू तो 'न जात मिले न पाँत' कहकर अलग हो गया, पर मुझसे

१. 'ओट लेकर' का अर्थ है पक्ष लेना।

यह न हो सकेगा।" और जैसे गुस्से का उबाल आया हो ऐसे सजग होकर बोला—"ला, एक बार मुझे हुक्का तो दे! मैं उसकी खबर लेता हूँ अभी।"

हीरा ने हुक्का देते हुए कहा—"तू जरा शान्त हो, शान्त! यह सब कहने वाले तो हम बैठे हैं। नाहक अपने हाथों अपनी फजीहत क्यों कराता है?"

कानजी हुक्का पीना छोड़कर हीरा की ओर गरदन घुमाते हुए बोला—"ऐसी नाहक फजीहत से मैं डरता नहीं हीरा, समझा? इसके विपरीत मैं तो किसी की लड़की की—जो बेचारी न मासरे की रही न पीहर की—फजीहत को रोता हूँ। मुझसे यह नहीं देखा जाता।" कहकर हुक्के का घूँट लेकर हीरा को देता हुआ बोला—"लोगों का डर लगता है तो तू न बोल! मैं तो उससे भी कहूँगा ही। और अगर साला अबे-तबे करेगा तो मारूँगा भी। किसी धोखे में न रहे।"

कंकु तो सन्नाटे में आ गई। उसने और हीरा ने मिलकर धीरे धीरे कानजी को शान्त किया।

"अच्छी बात है, आज तो···लेकिन यदि उसने कभी दुबारा। उसको मारा तो···। हाँ, यदि उसका कोई कसूर हो और मार-पीट करे तो और बात है; परन्तु इस प्रकार चलते-फिरते, बिना बात मारेगा तो इसका अच्छा फल न निकलेगा हीरा? कहना हो तो कह देना।" कहकर कानजी उठा।

कंकु ने धूला को धमकी भी दी। हीरा ने भी धूला को बुरी तरह फटकारा। साथ ही कहा—"गरम रोटी मिलती है तो चुपचाप खा! यदि फिर ऐसा किया तो तेरा काका (कानजी) अबकी बार तुझे मारे बिना न छोड़ेगा। और मैं सच कहता हूँ, उसका गुस्सा है बड़ा खराब। मुझे तो लगता है कि या तो तुझे और तेरी राँड को मार देगा या स्वयं मर जायगा और उसमें कोई खास फायदा न होगा।"

यद्यपि धूला को कानजी से बेहद डर लगता था तथापि उसे दूसरी ओर

से मुखिया और राज्य के अमलदारों से सहारा भी था। हर समय जुंग पर रखने वाला और मन की बात सुनने वाला रेशमा भी पड़ोस में ही था। फिर यदि कानजी की जगह कोई दूसरा होता तो उसे अमलदारों का सहारा लेकर उसने ठण्डा भी कर दिया होता। लेकिन उसको पता था कि कानजी मुखिया तो क्या अमलदारों से भी दबने वाला नहीं है। गत वर्ष ही उसने एक पुलिस वाले का गला दबाकर उसकी जन्म से गाली देने की लत छुड़ा दी थी। इस विषय में अफसरों ने भी थोड़ी-सी पूछ-ताछ करने के बाद काफी हिदायत देकर उसे छोड़ दिया था।

धूला यह जानता था कि यदि कानजी किसी कानून की पकड़ में आ गया तो फिर राज्य के अमलदार उस पर चढ़ बैठेंगे। लेकिन ऐसे किसी कानून की पकड़ में आवे तब न? हीरा के समझाने से उसे चेत तो न हुआ उलटा उसका गुस्सा ही बढ़ा—"मैं भी देखता हूँ कि वह कैसे मारता है? इतने दिनों से अमलदारों की जो बेगार की है वह कब काम आयगी?" और धूला की इस धौंस को कानजी भले ही कुछ न समझता हो पर हीरा तो उसके प्रभाव को अच्छी तरह जानता था। उसने रात को कानजी को खूब समझाया, पर कानजी भी व्यवहार में कच्चा न था। विवशता के स्वर में हीरा से कहा—"मैं सब जानता हूँ हीरा, लेकिन उस पर यों मार पड़े, यह मुझसे नहीं देखा जाता।" कुछ देर रुककर "मुझे भी डर लगता है कि या तो मैं किसी को मार बैठूँगा या..." कहते हुए कानजी चुप हो गया। परन्तु हीरा समझ गया कि कानजी 'या मैं उसे अपने घर में डाल लूँगा' ही कहना चाहता था।

उस दिन भगतजी से बातचीत करने के बाद से हीरा का सन्देह कुछ कम तो हो गया था, पर पत्थर-दिल कानजी को इस बेबसी की हालत में देखकर तो उसे विश्वास हो गया कि जीवी ने इस पर कुछ कर दिया है। और फिर मन-ही-मन कहा—'फोड़ो सिर सब मिलकर, लड़ मरोगे तो भी मेरा क्या?'

बारहवाँ प्रकरण

●

स्पष्ट बात

हीरा और कंकु के समझाने के बाद तो धूला का मिजाज और भी बिगड़ गया। उस दिन से वह जीवी को फूटी आँखों भी न देखता, लेकिन सिर्फ़ दिन में ही। परन्तु जीवी भी कोई स्वाभिमान-रहित न थी। इसलिए धूला भाई की रात भी बिगड़ती। सच पूछा जाय तो वह जीवी पर दिन में जितना रौब जमाता था, उतना रात में नहीं जमा पाता था। जीवी ने उसकी छाती में एकाध बार लात जमाई या नहीं, यह तो वे दोनों जानें, पर यह बात सही थी कि रात के वक्त धूला उससे घबराता था। एक रात को तो बाहर ओसारे में सोती नानी बुढ़िया ने धूला को कान के कलीले झाड़ने वाली गालियाँ देते भी सुना और अन्दर कुछ धमाधम सुनकर तो उसने दरवाजा भी खोला। आबरू खोने बैठे हुए दोनों को उसने ऐसी धीमी आवाज से, जिसे केवल वे ही सुन सकें, गालियाँ देकर धूला को बाहर बुलाया और खुद घर में गई।

जीवी को पास बिठाकर, "जवानी तो हमारे भी थी बहना!" कहकर सीख देना आरम्भ किया।

बाद में धूला की भी बुराई की और एक लम्बे भाषण के साथ जीवी के मगज में यह धँसाने का प्रयत्न किया कि दोनों कुलों की लाज उसी

के हाथ है। सवेरे धूला को भी सीख के साथ धमकी देते हुए कहा—"यों मार-पीट करने से क्या कहीं काम चलता है? एक आँख से रुलावे और एक से हँसावे, इसका नाम है आदमी।"

"यह तो ठीक है।" कहकर धूला चुप हो गया। परन्तु मन में सोच रहा था—'यदि इस राँड को और उस छैला को मजा न चखाया तो मेरा नाम धूला नहीं।'

और धूला इस बात के पीछे इतना पड़ा था कि उसने गाँव के दो-चार जवान ठाकुरडाओं[1] से—गाँव के चौकीदार से ही—कहा कि यदि कानजी को इस तरह पकड़ लिया जाय कि वह कानून की लपेट में आ जाय तो वह इनाम में एक भैंस तक दे देगा।

परन्तु गाँव में कानजी के जितने दुश्मन थे उनसे कहीं ज्यादा दोस्त थे। जब उसके कान में यह बात आई तो बहुत ही दुखी हुआ। एक दिन तो उसने हीरा के नाम से धूला को ही अपनी झोंपड़ी पर बुलाया। यदि अपने नाम से बुलाता तो धूला आता होता तो भी न आता। और वह भी घर होता तो और बात थी, पर यों गाँव के बाहर खेत पर तो कभी न जाता।

हीरा की जगह कानजी को देखते ही धूला के होश उड़ गए। हँसने की कोशिश करते हुए धीरे से बोला—"काना भाई! हीरा भाई कहाँ गया? मुझे बुलाया था सो क्या काम था?"

कानजी को विश्वास था कि यदि 'ना' कहूँगा तो तुरन्त मुँह फेरकर चल देगा और उसके बाद बुलाऊँगा तो बहुत हुआ तो 'मार डाला रे' की चिल्ल-पुकार मचाता हुआ गाँव की ओर भागने लगेगा। इसलिए हँसकर बोला—"अभी आता होगा। उस ओर छेंडी भरने गया है। बैठ न!" कहकर कानजी चिलम भरने लगा।

"छेंड़ी तो मुझे भी भरनी थी।" कहता हुआ धूला झोंपड़ी के द्वार पर ही बैठ गया।

१. ठाकुरों की एक नीची जाति।

एक-दो बार चिलम का आदान-प्रदान करने के बाद कानजी ने कहा—"देख धूला, आज जो तू आ गया है तो मैं तुझसे एक बात कह दूँ !"

"तो कहो न काना भाई ! एक की जगह बीस कहो। इसमें क्या है ?"

कानजी ने सीधा सवाल किया—"क्या यह सच है कि तू यह समझता है कि मैं तेरी बहू से लगा हूँ ?"

कानजी को बिलकुल शान्त देखकर धूला की भी हिम्मत हुई। बोला—"मैं तो ऐसा कुछ नहीं समझता भाई, पर साली दुनिया ऐसा कहती है। बाकी मेरे···"

"दुनिया की ऐसी-तैसी। मैं तो तेरी बात कहता हूँ—तू ऐसा समझता है क्या ? और यदि तू ऐसा समझता है तो यह बता कि तूने हमको कहाँ और क्या करते देखा।" कहकर धूला के मुँह को मुरझाता देख वह आगे बोला—"देख, डरने या शरमाने की तनिक भी ज़रूरत नहीं। जो हो, सो आज तू कह; और अपने मन की बात मैं कहूँ।"

परन्तु धूला ने कुछ ठीक से बात न की। अमुक औरत ने ऐसा कहा, फलाँ मर्द ने ऐसा कहा, कहकर वह उल्टी-सीधी बातें ही करता रहा। कानजी कुछ तिरछी करवट लेट गया। कोहनी के सहारे सिर को ऊपर रखते हुए उसने पूछा—"और क्या यह ठीक है कि यदि मुझे पकड़ लिया गया तो तू गाँव के चौकीदारों को एक भैंस देगा।" कानजी को तो हँसी ही आ रही थी।

"यह बात तो सच है काना भाई ! पर वह भी मुझे इसलिए···!"

"तेरे मन में चाहे जो हो, पर आज मैं तुझसे स्पष्ट बात कह दूँ ! यह बात कहने के लिए ही मैंने तुझे बुलाया है।" कहकर कानजी बैठा हो गया। बोला—"देख धूला, यदि मुझे बुरा काम करना होगा तो तू सात पहरे लगवा लेगा तब भी करूँगा। पर मेरे मन में ऐसा कुछ है नहीं।

मुझे ऐसा करना ही नहीं। हाँ, जिस समय मैं उसे लाया उस समय मेरे मन में कोई पाप था या नहीं, यह भगवान् जाने! पर एक दिन जब भगत जी-जैसे आदमी ने मुझे चेता दिया तो मैंने गाँठ बाँध ली। मेरे और उसके बीच अब तक न तो कोई अनुचित बात हुई है, और न भविष्य में ही होगी। इतना तो तू विश्वास रखना धूला! हाँ, मनुष्य हैं इसलिए हँस-बोल भले ही लें, पर मैंने तो उसके साथ यह भी नहीं किया। और मुझे यह करना भी नहीं। इसलिए तू निधड़क होकर घूम! रेशमा-जैसे लोगों के कहने में आकर उसे यों चलते-फिरते मारना-पीटना छोड़ दे!" कहकर एक गहरी साँस लेकर वह बोला—"मुझे इसकी कोई फ़िकर नहीं कि मेरे बारे में बातें होती हैं, पर बिना लिये-दिये उसके बारे में बातें होती हैं, यह मुझसे नहीं सहा जाता। इसलिए यदि आराम से रहना हो तो मेरा कहना मानकर सब वहम छोड़ दो! मेरी ओर से कोई ऊँच-नीच सुने तो तू मुझसे कहना। कसूर होगा तो दण्ड भोगने के लिए तैयार रहूँगा, पर उसे मारना-पीटना तो तू छोड़ ही देना!"

"आज से छोड़ ही दिया है काना भाई!" कहकर उठने की तैयारी करते हुए धूला से कानजी ने फिर कहा—"इतना तो ख्याल कर धूला! कि बेचारी आधी रात के समय हमारे पीछे-पीछे आई है। उसे मारेंगे-पीटेंगे तो उसकी आत्मा क्या कहेगी?" कहकर कानजी ने फिर एक साँस ली और खीसे में से तमाखू निकालकर चिलम भरते हुए बोला—"इसलिए आज से तू सब छोड़ देना! और यदि तू अपनी बहू के साथ मिलकर रहेगा तो ऐसी औरत तुझे सात जनम में भी न मिलेगी धूलिया! नहीं तो रोज़ की इस दाँता-किलकिल से तो उस बेचारी को या तो कुए-पोखर में गिरना होगा या फिर.....! मतलब यह कि भाई, सर्वनाश हो जायगा। साथ ही मैं तुझसे यह भी कहे देता हूँ कि मुझसे भी यह सब ज्यादा दिन तक न देखा जायगा।" कहकर कानजी चिलम पीने झुका।

धूला अब तक जहाँ 'हाँ ठीक है?' 'सच है काना भाई!' यही

कहता रहा था वहाँ दूसरी ओर यह भी सोचता रहा था कि कानजी की बात कब खत्म हो और कब उसे उठने का मौका मिले। कारण, उसे भय था कि यदि कानजी को गुस्सा आ गया तो इस झोंपड़ी पर उसका कोई धनी-धोरी नहीं।"

चिलम पीने के बाद ही उसे छुटकारा मिला। विदा होते वक्त कानजी ने फिर कहा—"क्या कहा धूला ? मन में कुछ सन्देह हो तो अब भी कह डाल !"

"अरे नहीं काना भाई ! अब काहे का सन्देह ?" कहकर धूला गाँव की ओर चल दिया। खेत पार करते वक्त तक तो उसे डर था। पर जैसे ही उसने खेत पार किया वैसे ही एक चैन की साँस ली।

जैसे हृदय का समस्त भार हल्का हो गया हो ऐसे कानजी को भी एक प्रकार की शान्ति मिली।

कानजी को इस प्रकार नरम होता देखकर धूला तो और भी मूँछों पर ताव देने लगा ; पर यह बात सुनकर रेशमा ने फिर उसे ठण्डा कर दिया—"अरे जा, भले आदमी ! छिनरा आदमी की तुझे क्या पहचान है ? वह तो यदि प्रतिज्ञा भी करे तो भी उसका विश्वास नहीं करना चाहिए। इसलिए देखना, कहीं उसकी बातों में न आ जाना !"

"नहीं-नहीं रेशमा, बात तो उसने सच्ची कही थी। उसने कबूल किया था—उन दोनों का जी एक दिन···।"

रेशमा बीच में ही हँस पड़ा। बोला—"धूलिया, तू औरत वाला तो हो गया, पर जैसा भोला था वैसा ही रहा, समझा ?" और धूला की बाँह को हिलाता हुआ कहने लगा—"कैसे सब बातें करनी चाहिएँ और कैसे हारी हुई बाजी जीतनी चाहिए, यह तो वही जान सकता है जो उसके-जैसा हो। तेरी समझ में यह नहीं आयगा।"

धूला रेशमा को अच्छी तरह जानता था। उसे विश्वास था कि इन बातों में रेशमा कानजी की अपेक्षा दो कदम आगे है। इसलिए तो वह रेशमा के कहने से सोच में पड़ गया था न।

जैसे अभी बात पूरी न हुई हो ऐसे अलग होते हुए कहता गया—"सच्ची बात सुनकर तो आए हो, पर यदि एक दिन बुरी बात न सुनो तो रेशमा को याद करना दोस्त!"

धूला को भी यह ठीक जँचा। और 'लाओ, मुखिया से तो बात करूँ। कानजी ने यह तो कबूल किया ही है कि उसका दिल लगा हुआ है।' यों सोचता हुआ वह मुखिया के घर की ओर चल दिया।

तेरहवाँ प्रकरण

●

परीक्षा

मुखिया और गाँव में रहने वाले पटवारी आदि ने धूला को पूरी-पूरी मदद देने का वचन दिया। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी कह दिया कि इतने से ही कुछ नहीं हो सकता। और कहा—"कानजी तुझे मारने आवे तो आने देना। फिर हम हैं और वह है।"

और इस प्रकार जो बात अब तक युवक-युवतियों तक ही सीमित थी उसकी चर्चा अब वृद्धों में भी होने लगी।

कानजी के कान में भी यह बात आई। उसे क्षण में हँसी आती, तो क्षण में दुःख भी होता। क्षण में 'देखता हूँ कि वे सब क्या करते हैं?' यह सोचकर उसकी आँखें लाल हो जातीं, तो फिर कभी जीवन से विरक्ति भी होने लगती। कभी वह मन में सोचता कि जीवी से कह दूँ—'चल, भाग चलें।'

और ऐसा करते-करते एक महीना बीत गया।

जब कि जीवी? आदमी मार खाते-खाते या तो पशु हो जाता है या हैवान बन जाता है, पर जीवी अभी इनमें से एक भी नहीं हुई थी। घर में होती तो कभी दिन में पशु-जैसी लगती और कभी रात को धूला को हैवानियत का परिचय भी दे देती। परन्तु घर के बाहर तो वह अब

भी हँसती रह सकती थी। सहानुभूति दिखाने वाले लोग से "होने दो, घर है तो रगड़ा-झगड़ा चलेगा ही" यों कहकर उनके आगे गाँव के उदाहरण रखती और कहती—"यह तो ऐसे ही चलता है—किसी के यहाँ कम, तो किसी के यहाँ ज्यादा।"

ऐसे ही करते-करते होली भी बीत गई। गर्मी के बेकार दिन आ गए। साथ ही ठलुआ आदमी को खोजती 'भमती माता' भी ऊधड़िया में दिखाई दी। पनघट पर गई एक युवती सिर पर जेहर लेते ही काँप गई। जेहर जमीन पर गिर पड़ी। औरतें घबरा गईं। पानी भरने आये हुए दो-तीन आदमियों ने उसे बाँह पकड़कर उठाया और गाँव में पहुँचाया। "क्षमा मेरी माँ! क्षमा माताजी की।" यों कहती हुई औरतें भी पीछे आ रही थीं।

गाँव की चौपाल में भीड़ लग गई। माता और भक्ति के उपासक ठाकुरडा उपस्थित हो गए। धूप-दीप करके माता के आगे साफा उतारकर सवाल किये—"बोलो मेरे स्वामी, आप कौन देव हैं! मुझ ग़रीब के घर में आपने सोने के पैर क्यों रखे है, माँ!"

बड़ी देर तक खेलने के बाद वह युवती बोली—"अरे हम तो मोती-छड़ा देव हैं। मैं पहले ही से न्योता देने आई हूँ। मेरे दूसरे साथी पीछे आ रहे हैं। गाँव में चौकी मजाओ, पखावज चढ़ाओ; हमें खेलना है। दो दिन खेलकर हम अपने रास्ते चले जायँगे। गाँव में कोई रोग-फोग हो—या और जो-कुछ हो सो सब उस समय कहना। अरे, हम दूर कर देंगे।"

"अच्छा अच्छा, मेरी माँ! हमारे ऐसे भाग कहाँ, जो बिना पुकार और बुलावे के आप पधारें।" जीवा भगत नाम के एक ठाकुरडा ने कहा। फिर नारियल फोड़कर वचन दिया—"कल गाँव की ओर से चौकी सजाकर पखावज मढ़ावेंगे! आप अपने साथियों सहित पधारना!"

"अच्छा रे, अच्छा!" कहती हुई वह औरत जमीन पर लुढ़क गई।

दूसरे दिन सुखड़ी पकाने और दिया जलाने के लिए गाँव में घी, आटे आदि की उघाई होने लगी। चौपाल में मण्डप निर्मित हुआ।

और पखावज गमकने के पहले तो लगभग बीस आदमी—विशेषकर युवक और किशोर खेलने भी लग गए।

तीन वर्ष पहले जब यह मोतीछड़ा देव आया था तब गाँव के लोगों को जितना डर लगा था उतना इस बार नहीं लग रहा था।

उस समय कानजी आदि युवकों की जगह अधेड़ और वह भी विशेषकर ठाकुरडा ही इस चौकी का सूत्र सँभाल रहे थे। एक के बाद दूसरा यों छः-सात ठाकुरडा आ पहुँचे। रोली, गुलाल और हल्दी के साँथिये पूरे गए। चौकी पर लाल-पीला कपड़ा बिछाकर चावल और गेहूँ की ढेरियाँ बनाई गईं। ऊपर लोटा रखा गया। लोटे के ऊपर नारियल रखकर कलावे का हार पहनाया गया। दोनों ओर दो नंगी तलवारें रखी गईं। दीवट पर घी का दीपक रखा गया और इस सबके आगे अग्नि-भरा कुण्ड रखा गया। जीवा भगत ने होठों की फड़फड़ाहट के साथ धूप डालना शुरू किया।

देखने वाले को अन्दर इस चौकी के पास बैठे पाँच-सात व्यक्तियों को देखते ही कुछ भय-सा लगता। इन सबकी पोशाक लगभग एक-सी थी—घुटनों तक की धोती और लम्बे बालों पर दो-तीन अँटे दिया साफा। एक-से ही थे। जब कि जीवा भगत तो खाली धोती ही पहने थे। उनकी कुछ-कुछ नशीली आँखें भय उत्पन्न करने वाली थीं।

लेकिन असली चहल-पहल तो इस मण्डप के बाहर—दरवाजे से लेकर बड़े चोके तक—हो रही थी। दरवाजे के आगे दूसरे भगतों के साथ पच्चीसेक जवान पखावज और झाँझ-मँजीरे की झड़ी लगाते बैठे थे। एक ओर मुखिया और गाँव के अन्य पन्द्रह-बीस आदमियों का भी जमाव था। दूसरी ओर औरतों और बच्चों का ठठ जमा था। सामने के मैदान में बीस-पच्चीस आदमी, जिनमे कुछ हाथ हिलाते तो कुछ पूरे अंग को कँपाते थे, शराब पिये हुओं की भाँति लड़खड़ाते हुए 'हुस' 'हुस' करके खेल रहे थे। कोई खेलने वालों को पानी पिलाता था तो कोई जमीन पर पानी छिड़क रहा था।

इतने में ही एक जोर की किलकारी सुनाई दी। एक आदमी उछलता हुआ चार फुट दूर जा पड़ा। दूसरे ही क्षण एक भयंकर होकारे के साथ खड़ा होकर वह धरती हिलाता और उस टोल को घेरता हुआ चक्कर खाता घूमने लगा। वह रेशमा था। उन भक्तों में से एक ने कहा कि इसमें आया हुआ देव उस सारी फौज का कोतवाल है। टोल को अपने घेरे में रखता और उर्द के दाने फेंकता हुआ रेशमा इतनी ज्यादा जोर से घूम रहा था कि यदि कोई उसकी चपेट में आ जाता तो धूल चाट जाता।

काफ़ी देर तक खेल लेने के बाद रेशमा और दो बड़े भक्त[1] चौकी के आगे लाये गए। तीनों जने इतने जोर से खेल रहे थे कि कमजोर दिल वाले तो उनको देखने की हिम्मत ही नहीं कर सकते थे। काफ़ी देर तक खेलने के बाद रेशमा ने पखावज आदि बन्द करा दिये। पूछा—"अरे, कुछ माँगना है?—कह डाल ना जो कुछ हो सो! दुखियों के दुःख निवारन कर दूँगा रे!"

"तुम नहीं करोगे तो और कौन करेगा मेरे मालिक!" जीवा भगत ने कुण्ड में धूप की चुकटी डालते हुए कहा। दरवाज़े के आगे लोगों का ठठ जमा था। कानजी आदि युवक भी भीतर आ गए थे।

"तो कह, कह डाल! कह डाल अपना दुःख!" कहकर रेशमा फिर ज़ोर से खेलने लगा। पीछे से उन दोनों ने भी अनुकरण किया—"हाँ रे, जो तेरा दुःख हो सो गा डाल!"

"मेरे माँ-बाप! हमारा दुःख क्या तुमसे छिपा है? तुम तो···" परन्तु देव को कुछ बड़बड़ाता हुआ सुनकर जीवा भगत चुप हो गए।

रेशमा बोलने लगा—"अरे, मुझसे क्या छिपा रह सकता है? तू कहे तो तेरे गाँव की बुराई को सामने रख दूँ; तू कहे तो ऐसा कर्म करने वाले को घड़ी-दो घड़ी में ही परचा[2] दे दूँ।"

१. जिन पर देव प्रसन्न हुआ हो ऐसे आदमी।

२. 'परिचय' का अपभ्रंश। अभिप्राय है शक्ति का प्रदर्शन करना।

"होगा माँ-बाप ! काले सिर का आदमी है, भूल तो करता ही है। भूल न करें तो हम आदमी ही काहे के ?" एक दूसरे वृद्ध ठाकुरडा ने कहा।

"लेकिन अरे एक सबल दूसरे दुर्बल को खा जाय—उसकी इज्जात पर हाथ डाले, यह कहाँ का न्याय है ?" कहकर रेशमा कटकटाकर अपने शरीर को डंडे की तरह घुमाने लगा।

यह सुनते ही कानजी के कान खड़े हो गए। वह दूसरी ओर एक खम्भे के सहारे खड़े भगत के पास गया और हँसता हुआ बोला—"यह देव तो जबरदस्त लगता है ?"

इतने में ही देव को बोलता सुनकर भगत ने उसे चुप किया। देव कह रहा था—"अरे, जितनी मुझे खबर है उतनी तुम गाँव वालों को भी नहीं।" कहकर 'हा ! हा ! हा !'····करके अग के टुकड़े करता हुआ ऐसे खेलने लगा जैसे किसी महान् कष्ट से पीड़ित हो। कुछ देर बाद कहने लगा "बोल रे भगत !" जीवा भगत से ही कह रहा था—"कह डाल ! ऐसे लुच्चों को दण्ड दूँ या क्षमा कर दूँ ? कह दे !"

कानजी की आँखें तन गईं। "यह तो कोई अजीब देव लगता है।" बड़बड़ाता हुआ बोला—"क्षमा क्यों करते हो मेरे मालिक ! वह भी तो जाने ! परचा तो दो ही।"

"अरे, अरे, लेकिन·····इसमें फायदा नहीं निकलेगा।" रेशमा फिर जोर से खेलने लगा। जैसे कोई पंप हवा खींचता है ऐसे उसके मुँह से 'सुड़र-सुड़र' हो रही थी।

कानजी आगे आ गया था। बोला—"नहीं, क्यों निकलेगा ? एक बार उस पापी को दण्ड मिलेगा तो साथ ही तुम्हारा परचा भी तो मिल जायगा। और ऐसे काम करने वाले दूसरों को भी अकल आवेगी।"

जीवा भगत और मुखिया आदि ने कानजी से चुप रहने के लिए कहा। लेकिन कानजी अब चुप रहने वाला न था। देव को खेलते हुए देखकर उसने फिर कहा—"यदि तू सच्चा देव है तो आज परचा दे-

दे। इस भरी सभा के देखते; इस चौकी के सामने ही।"

"भगत! कौन है यह? इससे कह दे कि मुझसे टक्कर लेना ठीक नहीं है।·····आज मुझे न छेड़! देव से टक्कर लेने की बात छोड़ दे!" और इस वाक्य को पूरा करने के साथ ही रेशमा ने एक भयंकर हुंकार की। पीछे से उन दो जनों ने उसके स्वर-मे-स्वर मिलाया। उसके पैर तो इतने ज़ोर से पड़ रहे थे कि दूर खड़े आदमियों को भी अपने पैरों के नीचे झनझनाहट महसूस होती थी। जैसे किसी को खाने वाला हो ऐसे दाँत किटकिटाते हुए रेशमा ने गर्जना की—"कौन है यह देव का सामना करने वाला! आ जाय मेरे सामने। हाय रे हाय!···कितनी देर है रे?"

लोगों के हृदय जैसे धड़कने बन्द हो गए हों। बच्चे माताओं की गोद में छिप गए। औरतें जहाँ खड़ी थीं वहाँ से भागने की तैयारी करती हुई-सी आगे से पीछे जा-जाकर खड़ी होने लगीं। दृढ़ हृदय वाले भगत भी एक-दूसरे को देखने लगे।

कानजी को बहुत पकड़ा, बहुत-बहुत समझाया; पर वह ऐसे जोश के साथ रेशमा के आगे जा खड़ा हुआ जैसे उसे भी देव आ गया हो। शरीर भी कुछ कुछ काँप रहा था। शान्त आँखें मानो अंगारे बिखेर रही थीं। बोला—"मैं यह रहा देव! मुझे भी आज देखना है कि जीते आदमी को तुम कैसे खाते हो?"

"अरे अब भी कहता हूँ। देव का सामना करने में कोई लाभ नहीं है।···मुझे तुझ पर तरस आता है।" रेशमा ने कुछ ठण्डा पड़ते हुए कहा।

परन्तु कानजी ने तो आज जैसे मरने का ही निश्चय कर लिया हो ऐसे बोला—"यदि तरस खाना हो तो दुनिया में बहुत-से ऐसे लोग पड़े हैं जो तरस खाने में विश्वास रखते हैं। मुझे तेरी दया की ज़रूरत नहीं। मैं तो यहाँ बैठा हूँ—मुझे तो आज तेरी परीक्षा लेनी है।" और कानजी देव से कुछ कहे, इसके पहले ही उसके बड़े भाई आ गए। बाँह पकड़कर उठाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए वे बोले—"ओ अभागे! क्यों बाद में

दूसरों को भी परेशान करने के लिए बैठा है।" हीरा तथा अन्य युवक भी आ पहुँचे थे।

"छोड़ दो तुम सब मुझे! आज मुझे सच्चे-झूठे का फैसला करना है। इस ठाकुरडा में कौन-सा देव समाया है, यह मुझे देखना है।" कानजी ने कहा। लेकिन इस वाक्य के पूरा होने के पहले ही उसे धकेल-कर दरवाजे तक ले आया गया था।

"लेकिन तुझे परीक्षा लेनी हो तो ले लेना! अब तो तू घर चल! अभी तो यह दो दिन तक खेलेगा।" हीरा ने कहा।

कानजी शान्त होता हुआ बोला—"लेकिन तुम मुझे यहाँ क्यों खींच लाये हो?" उस देव से मुझे यही कहना है कि यदि वह सच्चा देव होगा तो गले में धधकती ज़ंजीरें पहन लेगा।"

"हाँ, हाँ, लेकिन अब यह सब शाम को करेंगे। अभी तो खाने के लिए घर चल!" अन्दर से बाहर निकलते हुए भगतजी ने कहा। मुखिया ने भी यही कहा। और यों एक के बाद एक सब बाहर निकले।

खेलते हुए व्यक्ति भी इस हो-हल्ले में शान्त हो गए थे। और घड़ी-भर में तो जीवा भगत के दो-तीन चेलों के अलावा सब खाना खाने चले गए।

खाने के लिए तो सब गये, पर शायद ही किसी ने पेट भरकर खाया हो। जहाँ देखो वहाँ यही चर्चा हो रही थी। कोई कहता था—'आज या तो कुछ विचित्र घटना घटेगी या देव कानजी को पागल कर देगा।' तो···इन सब बातों से अनजान लोग आँख फाड़कर पूछते—'क्या कहते हो? क्या काना ने देव का सामना करने की ठानी है? बेवकूफ क्यों अपने-आप आग में कूदता है?' और बहुतों ने तो उसे समझाया भी—"काना क्यों अपने-आप मृत्यु का ग्रास बनता है?"

कानजी हँसकर जवाब देता—"मृत्यु का ग्रास मैं बनता हूँ या यह देव, यह तो शाम को बताऊँगा! या तो इस देव को इस गाँव से समूल निकाल दूँगा या मैं मर जाऊँगा। पर आज मैं छोड़ूँगा नहीं।"

और बड़बड़ाया—"साला ढोंगी।"

"लेकिन अरे, ये जो छोटे बच्चे खेलते हैं, इनमें ढोंग काहे का! जरा तो सोच! वह मथुरा और लाला तो तेरे ही गुट के हैं और उस धूलिया नाई को तो गाने के साथ घूमना भी नहीं आता। वह क्यों खेल रहा था? किसी देव का प्रभाव होगा तभी न?"

परन्तु इस सबका जवाब तो कानजी के पास तैयार था—"ये साले तो पखावज और मँजीरे की धुन में खेलते हैं। मैं ऐसे नंगे देव में विश्वास नहीं करता। हाँ यदि गरम जंजीर गले में डाल लें तो जानूँ।"

फिर कानजी की भाभी तो रोई भी—"तुम्हारे-जैसे भाबाजी को को क्या? देव रूठ जाय और मेरे एक बैल या भैंस को मार दे तो भीख तो मुझे ही माँगनी पड़ेगी न?"

"लेकिन तुम्हारी भैंस या बैल ने तो देव का कुछ बिगाड़ा नहीं है। बिगाड़ा भी है तो मैंने ही बिगाड़ा है। और मैं तो इसके लिए तैयार ही बैठा हूँ।"—इस प्रकार कहते कानजी को चुप करते हुए बड़े भाई बोले—"नहीं, भाई नहीं, अपने को ऐसा कुछ नहीं करना। ढोंग होगा तो भी अपना कपाल फोड़ेगा। हमें इससे क्या? तू खाकर जा! वे जो पूले हैं उन्हें खलिहान में डाल देना! मैं पीछे से बैल लेकर आता हूँ।"

"लेकिन तुम इतने ज्यादा क्यों घबराते हो बड़े भाई! यह साला कोई बाघ तो है नहीं, जो खा जायगा। और सच्चा देव क्या ऐसे गुस्सा थोड़े ही होता है! उसका हृदय तो बड़ा उदार होता है।"

"हृदय उदार नहीं है, यहीं तो खतरे की बात है। न हमें पखावज में जाना है और न परीक्षा लेनी है। तू अपने खलिहान पर जा!"

आज पहली बार कानजी ने बड़े भाई के सामने क्रोध किया—"तुम कुछ भी कहोगे तो भी आज मैं पीछा नहीं छोड़ूँगा। या तो यह देव सच्चा निकलेगा या मैं? मुझे इसका निश्चय करना है।"

और यों कानजी टस-से-मस न हुआ तो नहीं ही हुआ। घर से उठकर भगतजी के यहाँ गया। गाँव के लोगों को जानने वाले भगतजी

ने भी सलाह दी—"मरने दे न कानजी ! आज के बाद गाँव में यदि कुछ होगा तो···। और ये सब ठहरे बड़े परिवार वाले। आदमियों को नहीं तो अन्त में ढोरों को ही कुछ-न-कुछ होगा, यह तो तय है ही। लेकिन ये लोग तो इसे देव का ही कोप मानेंगे और नाहक अपने ऊपर बदनामी डालेंगे।"

"लेकिन भगतजी ! हम पर बदनामी कैसे डालेंगे ? गाँव वालों के सामने ही इस देव बनने वाले के हाथ में आग पकड़ा दूँगा। सच्चा होगा तो आग पकड़ लेगा। इस प्रकार परचा देने के बाद मुझ तने को छोड़कर कोई डालों से थोड़ा ही जा चिपटेगा ? वह भी साला देव है या कोई मूरख ?"

"तो फिर अच्छी बात है !" एक युवक ने कहा—"और उसके बाद तो अन्य दो-चार युवक भी साथ देने को तैयार हो गए। लेकिन कानजी ने उनसे कहा—"नहीं भाई, तुम तो जो-कुछ हो सो देखा करना, बीच में बोलना मत ! मैं तो अकेला हूँ, इसलिए चाहे जो कर सकता हूँ; पर तुम्हारे पीछे तो रोने वाले हैं।" कहकर हँसने लगा।

दूसरी ओर मुखिया के यहाँ भी इस बात की चर्चा थी। वे भगत मुखिया से कह रहे थे—"देव को छेड़ने से गाँव का कुछ भला नहीं होगा, मुखिया ! इसलिए छोकरों की बातों में आये बिना, चुपचाप दो घड़ी खिलाकर शाम को विदा कर दो !"

मुखिया और गाँव के दो-चार जनों को भी यह ठीक लगा। कानजी को बुला लिया गया, पर उसने जवाब दिया—"मैं वहाँ चौपाल पर आता हूँ। जो कहना हो सो वहाँ कहना ! मुझे किसी की पंचायत नहीं सुननी।"

मुखिया हारकर भगतजी के यहाँ आये। लेकिन वहाँ भी अन्त में उन्हें निराश होना पड़ा। निराश इसलिए कि यदि कानजी अकेला होता तो कदाचित् बहुमत के आगे उसकी ज़िद न चलने पाती, पर यहाँ तो आठ-दस जने थे और उनमें भी फिर मिल गए थे भगतजी।

हारकर मुखिया ने भगतजी को एक ओर ले जाकर समझाया। और उसके बाद उन छोकरों के घर चक्कर लगाते हुए कहा—"देव का सामना करने खड़ा हुआ है तुम्हारा लड़का; पर यदि गाँव मे कुछ हो गया तो तुम जिम्मेदार होगे।" ऐसी धमकी देते और डर दिखाते वे चौपाल पर आ बैठे।

मुखिया की यह तरकीब खूब कारगर हुई। हर एक युवक के घर का आदमी, किसी-किसी का तो पूरा कुटुम्ब ही—भगतजी के यहाँ आया। कोई डाँट-फटकारकर तो कोई समझा-बुझाकर अपने-अपनों को घर ले गया। और यदि चौपाल में जाने भी दिया गया तो पक्की प्रतिज्ञा कराने के बाद।

रह गया कानजी। लेकिन उसमें तो अब और भी हिम्मत आ गई थी। समझाना आरम्भ करने वाले भगतजी से "तुम भी क्या हो भगत जी! जान-बूझकर भी ऐसी बातें करते हो?" कहकर अकेले जूझने की खुमारी में वह उठा। भगतजी से कहा—"तुम जाकर सो रहो भगतजी! वहाँ आओगे तो या तो तुम्हें व्यर्थ में बोलना पड़ेगा या न बोलने पर कलंक सिर पर लेना पड़ेगा।" कहकर "हीरा गया या है?" बड़बड़ाता हुआ वह उसके घर की ओर मुड़ा।

"यह तो ठीक है मेरे भाई पर ····तू जा मैं पीछे से आता हूँ!" कहकर सोच में पड़े हुए भगतजी हुक्का पीने लगे।

कानजी को तो जैसे कुछ होना नहीं था, पर भगतजी को ज्यादा दहशत तो स्पर्श-दोष को मान बैठने वाले गाँव वालों की थी। इसके अतिरिक्त भगतजी को बड़ा भारी खतरा तो यह था कि या तो उन देव-भक्तों के साथ मार-पीट हो जायगी या आमने-सामने तलवारें खिंच जायँगी। इतने में ही उसकी नजर घर से बाहर जाती जीवी पर पड़ी। भगतजी एकदम खड़े हुए। थूकने के बहाने ओलाती के नीचे आकर जीवी से पूछा—"क्या चौपाल पर जा रही है?"

"हाँ!" कहकर जीवी ने घूँघट ज़रा और नीचा कर लिया।

भगतजी भी आगे-आगे चलने लगे।

"फिर क्या हुआ भगत काका ?" जीवी ने पूछा।

"किसका री ?" भगत ज़रा धीमे पड़े।

"देवों के गले में कुछ जंजीरें डालने की बात थी न ?"

"औरों को तो उनके सगे-सम्बन्धी समझा-बुझाकर ले गए, पर उस जिद्दी को कौन समझावे। उसे समझाने वाला है भी कौन ? नाहक पूरे गाँव की आँख का काँटा हो जायगा। देख, अभी तो हीरा के यहाँ माथा-पच्ची करता सुनाई दे रहा है। लेकिन वह ऐसा नहीं जो किसी की माने।" कहकर भगतजी ने कह ही डाला—"तू जा तो सही वहाँ। सुन तो सही, क्या कहता है ?" कहकर चुप हो जाने वाले भगतजी ने कह ही तो डाला—"तू कहना तो सही, मान जाय तो अच्छा है। मुझे यकीन है कि वह तेरा कहना जरूर मान लेगा।"

जीवी बेचारी देवों को मानती थी। इसीलिए कानजी से मिलने का अवसर खोज रही थी। किसी की परवाह किये बिना ही वह हीरा के घर की ओर मुड़ी। लेकिन सबके सामने वह कहेगी कैसे ? यह सोचकर यह हीरा के घर के कोने में ही—जैसे हृदय मे लगा दुःख का काँटा पैर के तलुए में आकर कसक रहा हो ऐसे काँटा निकालती—खड़ी हो गई।

इतने में ही कानजी को कहते सुना—"तुझे न आना हो तो ठीक है हीरा, पर मैं तो ज़रूर जाऊँगा।" और दूसरे ही क्षण वह दरवाजे के बाहर निकला। जीवी को देखकर कुछ ठिठकता हुआ-सा आगे बढ़ा। जीवी बोली—"कहाँ जाते हो ? ठहरो, मुझे तुमसे कुछ....." बात शुरू की।

"मिलना किसी दिन....." कहकर कानजी मस्ती से आगे बढ़ा।

"यह तो ठीक है, पर आज यदि चौपाल में जंजीर-फंजीर की खट-पट की तो तुम्हें मेरी सौगन्ध है। मेरा लोहू पीना हो तो ऐसी खटपट करना !" कहकर जीवी ने कानजी की ओर एक नज़र डाली और हीरा के घर की ओर चल दी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कानजी मन में झुँझलाया तो खूब था, पर उसने जंजीर की कोई बात नहीं चलाई। प्रत्युत इसके बाद उसने हाथ में पखावज ली। हथौड़ी से ठीक-ठाक करके खुले हाथ से बजाने लगा। आस-पास बैठे युवकों से कहा—"अरे, एक तान और एक राग में भजन गाना! फिर देखना कि माता के भक्त तीन-तीन दिन को खाट में पड़ते हैं कि नहीं!" कहकर भजन उठाने से पहले खेलने वालों की ओर नज़र डाली। सवेरे की अपेक्षा लगभग आधी संख्या देखकर और उनमें रेशमा को न पाकर तो उससे यह कहे बिना न रहा गया—"क्यों, बड़ा देव नहीं दिखाई देता कहीं?"

"वह तो गया खलिहान पर। घर में काम हो तो यहाँ सारे दिन कैसे रह सकता है?" रेशमा के पट्टीदार (किसान का मालिक) मनारे ने कहा।

लगभग आधे आदमी हँस पड़े। कानजी ने पखावज को टोकते हुए कहा—"आया होता तो भी अब जंजीर तो डालनी नहीं थी।" और फिर स्पष्ट किया—"अरे भाई, किसी डर के कारण छिपे हो तो ऐसा न करना। जंजीर-फंजीर कोई नहीं डालेगा। इसलिए चाहो तो मन करके दो घड़ी खेल लेना।" कहकर आस-पास के युवकों पर फिर एक नज़र डाल ली। मँजीरा लिये बैठे एक लड़के से कहा— "रामा, अब ये मँजीरे इस मनारे को दे, तू फिर बजाना!" और फिर पखावज की एक गत बजाई। यह कहना कठिन था कि कानजी के हाथ बोल रहे थे या पखावज। मीठी आवाज़ से भजन उठाया—

मेरे प्यारे रे! मुरली बाजी तीखे स्वर से।
मेरे प्यारे ओ! मुरली ने मन मोहा, हमसे रहा नहीं जाता।
हमसे रहा नहीं जाता, हमसे कहा नहीं जाता। मेरे प्यारे रे!

कानजी की आवाज ऐसी थी कि मन को काबू में रखने वाले अच्छे-अच्छे भी झूम जाते। मृदंग का ठेका तो ठेठ हृदय में जाकर लगता था। नाचने के लिए पैर जैसे सुरसुराते थे। जैसे-जैसे भजन जमता गया

वैसे-वैसे ही गाने वाले भी रंग में आते गए। कोई-कोई तो उछलकर खेलने भी लगा। घड़ी-भर में तो दस के बदले बीस आदमी खेलने लगे।

भजन पूरा होते ही कानजी ने भगतजी से कहा—"कहो तो, जितने यहाँ बैठे हैं उन सबको खिलाऊँ भगतजी!"

"मरने दो!" भगतजी के पास बैठे मुखिया ने हँसकर कहा। उनको तो यही विश्वास हो गया था कि चाहे जो हो, पर भगतजी के इस शागिर्द के पास कोई पक्की विद्या है। इसके बिना वह देवों के सामने इतनी टक्कर लेने की हिम्मत नहीं कर सकता।

परन्तु मण्डप के अन्दर बैठे जीवा भगत और दूसरे सात-आठ ठाकुरडा कुछ मन्त्रणा कर रहे थे। इन देवों के साथ उनकी माता की—और साथ-साथ अपने विश्वास की भी—पत जा रही थी। अरे, चली ही गई थी। इसीलिए तो एक जने को रेशमा को बुलाने दौड़ाया गया था। जीवा भगत भी धूप चढ़ाते गम्भीर बने बैठे थे। बाहर होती बातचीत को सुनकर उनके कलेजे में आग लग रही थी। इतने में ही रेशमा आया। मण्डप के पीछे होकर अन्दर गया। जीवा भगत ने उसे आड़े हाथों लिया—"बोल हरामी, तुझमें जो खेल रहा था क्या वह देव था?"

कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद रेशमा ने कहा—"मेरी माता थी जीवा काका!"

"तो आने दे अपनी माता को! हम भी अपने देव का स्मरण करते हैं। इन गाँव के लोगों को दिखा देंगे कि देव के साथ टक्कर लेना कोई छोटे बच्चों का खेल नहीं।"

कानजी ने दूसरा एक ऐसा भजन उठाया जो मुर्दों को भी झुमा दे—

"राजा के शहर में गायें काटी गईं वीर!
सहाय के लिए आओ राम दे!"

और जब दूसरी पंक्ति उठाई—

"श्वेत घोड़े पर चढ़े वीर राम दे
क्षमा करो राम दे!"

तब तो तम्बू में शोर मच गया। धरती ऐसे हिल रही थी जैसे मानो स्वयं भी खेल रही हो। कानजी के कान में कुछ भनक तो पड़ी—"आज कुछ-न-कुछ झगड़ा ज़रूर होगा।" पर उस पर विशेष ध्यान न देकर भजन चालू रखा। दरवाजे में लोगों के ठट फिर जम गए। लगा, जैसे बाहर खेलते आदमियों में भी नई चेतना आ गई हो।

तम्बू में से आवाज़ आई—"कहाँ गया रे मुखिया? वह परीक्षा लेने वाला कहाँ गया? आ जाय मेरे सामने!" जीवा भगत गरज रहा था। मुखिया ने भगतजी को आगे करते हुए कानजी से कहा—"तू अपना भजन चालू रख न?"

अन्दर जाकर देखता है तो साढ़े पाँच हाथ लम्बा जीवा भगत और उसके पीछे रेशमा के साथ तीन और आदमी लम्बे बालों को खोलकर धमा-चौकड़ी मचा रहे थे! मुँह की 'हाउस-हाउस' की आवाज़ से तो शान्त जलती हुई दीपक की लौ भी जैसे काँप रही थी।

बाहर भजन गाने वालों की आवाज काँप रही थी। कानजी भी कुछ-कुछ काँप रहा था—डर के मारे नहीं, गुस्से के मारे। उसका चित्त भी भजन गाने से हटकर अन्दर से आने वाली गर्जना पर लगा था। कोई-कोई वृद्ध कह रहा था—"भाई! अब पखावज बजाना बन्द करो! देव क्या कहता है यह सुनने दो ज़रा!"

"सुनना हो तो जाओ न अन्दर! पखावज क्यों बन्द करें?" हीरा ने कहा।

लेकिन तभी कानजी के कान में आवाज आई—"नहीं रे मुखिया! मुझे कुछ नहीं सुनना! ला, पहले मेरा भोग ला···परीक्षा लेने वाले को बुला और मेरे आगे खड़ा कर दे!" दूसरों ने भी "हाँ-रे, ला दे!" कहकर जीवा भगत के कथन का समर्थन किया।

मुखिया कह रहे थे—"होगा, मेरे माँ बाप! लड़का था, भूल हो गई। इतना अपराध क्षमा करो देव! तुम तो···"

एक भयंकर आवाज़ के साथ जीवा भगत गरजा—"हाँ···रे, आज

तेरा मान नहीं रहेगा मुखिया ! मेरा भोग ला–धर दे यहाँ ! मुझे उसके दाँत गिनने हैं।" कररर्र्र् कट्-कट् करता हुआ दाँत भींचने लगा।

सारी भीड़ कभी देव वाले तम्बू की ओर, तो कभी कानजी की ओर देख रही थी। माताओं को अपनी गोद में छिपे बालकों का ध्यान न था। सबकी आँखें और मुँह फट गए थे, जैसे हृदय की गति रुक गई हो।

'मुझे उसके दाँत गिनने हैं' की आवाज के कान में आते ही कानजी ने मृदंग को एक ओर रख दिया। उछलकर खड़ा होता हुआ बोला—"तेरे देव की ऐसी की तैसी ! देखें कैसे मेरे दाँत गिनता है ?" और लाल-ताती आँखों से तम्बू की ओर चला। किसी-किसी को तो कानजी पर भी देव चढ़ा हुआ लगने लगा। चार-पाँच औरतें तो बोल उठीं—"काना भाई ! अरे कोई पकड़ो तो सही।" और देखते क्या हैं कि कानजी की एक बाँह से जीवी चिपटी है और दूसरी से हीरा और कानजी के बड़े भाई। लेकिन कानजी को इसका भान ही न था। जैसे ही उसने यह सोचकर कि यह किसी मर्द का हाथ है, उसे छुड़ाने का प्रयत्न किया वैसे ही औरत दिखाई दी। जीवी को पहचानते देर न लगी। उसका (जीवी का) मुँह फट गया था और उसकी फटी हुई आँखें देखकर तो ऐसा लगता था जैसे अभी इनमें होकर प्राण निकल जायँगे।

"तू ही मेरे प्राणों की प्यासी है।" कानजी बोल उठा। "अच्छा चल, छोड़ दे !" कहकर देव की ओर एक कड़ी नजर डाली और पीछे को मुड़ गया। हीरा और बड़े भाई उसके पीछे-पीछे घर की ओर चल दिए।

जब जीवी को इसका ध्यान आया कि वह स्वयं क्या कर बैठी है तो उसे धरती फटने पर उसमें समा जाना ज्यादा अच्छा लगा। वह घर की ओर चली तो सही पर उसे ऐसा अनुभव हो रहा था जैसा दुनिया में शायद ही किसी को हुआ हो। पीछे से गाँव के लोगों की आँखें ऐसे चुभ रही थीं जैसे भालों की नोकें।

बाहर खड़ी औरतें भी ऐसे तितर-बितर होने लगीं जैसे सब-कुछ

समाप्त हो गया हो—होने वाली बात हो चुकी हो। पर मण्डप में तो जितना शोर-गुल पहले था उससे भी ज्यादा बढ़ गया था। कानजी का स्थान भगतजी ने ले लिया था, पर वे शान्त भाव से ही देव से कह रहे थे—"यहाँ बुलाने से क्या है ? तू तो हवा है, चाहे जितनी दूर से मन-चीता काम कर सकता है।"

"कौन है यह ?" जीवा भगत गरजा—"ला रे, मेरा खड्ग ला ! ला, इसकी खबर लूँ !"

जिसे भय छू भी नहीं गया था ऐसे भगतजी ने धीरे से दो डग भरे। जीवा भगत के सामने जाकर उसका तिरस्कार-सा करता हुआ वह कहने लगा—"जीवा भगत, देव को तो खड्ग की ज़रूरत होती नहीं, समझे ! खड्ग तो आदमी ही काम में लाता है। इसलिए खेलने आये हो तो चुपचाप खेलकर हँसी-खुशी अपना रास्ता लो !" कहकर मुँह फेरते हुए कहा—"अच्छा उठो, मुखिया ! दो घड़ी भजन गाने हों तो गाकर विदा करो ! देख लिये देव और उनकी करामात !" कहकर तम्बू से बाहर हो गए।

भगतजी के कहने का ढंग और मुख-मुद्रा ऐसी थी कि न केवल मुखिया वरन् लगभग सारे गाँव को ही एक प्रकार की हिम्मत आ गई थी। बातें भी कर रहे थे—"भगतजी को किसी के बाप की भी परवाह नहीं। वह किसी से लाग-लगाव रखने वाले थोड़े ही हैं !"

"उन्होंने तो पकड़ा है एक सतनाम—एक भगवान का सहारा। उनके स्वामी का ये देवी-देवता क्या कर सकते हैं।"

तो फिर तीसरा कह रहा था—"भाई, किसी विद्या के बल के बिना किसी का मुकाबला नहीं किया जा सकता। भगतजी के बोलते ही वह देव कैसा ठण्डा पड़ गया ? उनकी जगह यदि कानजी होता तो देखते ही बनता।"

तो एक ने निष्कर्ष निकाला—"उन्हें ज़रूर उसकी नस मालूम होगी। यों लम्बी-चौड़ी बात करने से क्या फायदा ?"

कुछ देर मृदंग कूटकर सबको खिलाने के बाद गाँव के लोग उठे और पाँच नारियल फोड़कर गाँव की सीमा पर रख आए। सबको लगता था कि इस वर्ष न तो देवों के आने में कोई लाभ हुआ और न जाने में ही कोई मज़ा आया।

सब सीधे-सीधे उतर गया था; फिर भी बहुतों को लगता था कि कुछ-न-कुछ अनिष्ट ज़रूर हुआ है—किसी की परीक्षा अवश्य हुई है।

चौदहवाँ प्रकरण

●

भले ही चला जाय

चैत्र का बाल-रवि अभी पालने में झूलता ही कहा जा सकता था। लेकिन इतने में ही उसने 'पूत के पाँव पालने में' वाली कहावत के अनुसार अग्नि की चिनगारियाँ उड़ाना शुरू कर दिया। लोगों ने ढोरों को बाड़े से बाहर निकालकर आँगन के घास के छप्परों के नीचे बाँध दिया था। ज्यादा आदमियों वाले घरों में पानी के जेहरे आना शुरू हो गया था तो एक-दो आदमियों वाले घरों में अभी झाड़ू ही लग रही थी। चाहे जब दूध देने की आदत वाली भैंसों में से कोई-कोई दूसरी बार की सानी खाती छप्पर के नीचे खड़ी थी और उनकी मालकिनें सानी के खत्म होने से पहले ही दोहनी भर लेने की जल्दी में 'घर्र-मर्र' करती थन खींच रही थीं।

जेहर भरकर आती हीरा की बहन नाथी ने घर में घुसते-घुसते जीवी को देखा। ज़ोर से आवाज़ लगाकर पूछा—"जीवी भाभी, पानी भरने चलती हो क्या?" जीवी की 'हाँ' आवाज तो न सुनाई दी, पर उसे सिर हिलाते देख सकी। "अच्छा तो चलो," कहकर नाथी घर में गई और जेहर खाली करते ही फिर बाहर आई। काफ़ी देर तक राह देखने के बाद फिर पुकारा—"जीवी भाभी, कितनी देर है?"

जवाब देने के बदले स्वयं जीवी ही जेहर लिये बाहर निकली। दोनों जनी कुए की ओर चलने लगीं।

आँखें नीची करके चलने पर भी जीवी यह देख-समझ सकती थी कि गाँव का हर-एक आदमी—कोई उसकी ओर देखकर तो कोई बिना देखे ही—घृणा की वर्षा कर रहा है। आदमी तो दूर, एक कुत्ते की ओर देखने की हिम्मत भी उसमें न थी। गाँव के बाहर निकली तो उसे कुछ शान्ति मिली। पर इतने में ही उसने सामने से आती एक पनिहारिन को ठिठकते देखा। जीवी ने समझ लिया कि उसने पीछे वाली पनिहारिन से उसी के बारे में कुछ कहा है। जलती-भुनती (सकुचाती) जीवी इन लोगों से बचकर सिर झुकाए ही चली गई।

ख़ूबी की बात तो यह थी कि जो औरतें कल तक सिर पर भरी जेहर होने पर भी, जीवी से एक पाली मक्का पीसने के बराबर वक्त तक, बातें करती खड़ी रहती थीं, उनमें से आज एक भी उसकी ओर आँख तक न उठाती थी। काली तो उसकी खास सहेली-जैसी थी, पर उसने भी आज दूर से ही टाल दिया। जीवी को इस समय बड़ी चोट लगी। मन में आया कि कह दे—'अरी, मैंने तेरे माँ-बाप तो नहीं मारे जो यों बचकर जाती है।' पर वह बोल न सकी।

लेकिन यदि कोई साफ कहने वाला कह देता—'ओहो! इसमें क्या हो गया? कानजी मृत्यु के मुख में जा रहा था, यह उससे न देखा गया हो और उसे बचाने चली गई हो तो इसमें क्या बुरा है? उसने कोई पाप तो नहीं किया जो सब उसके ऊपर मुँह बिचकाती फिरती हो?' तो निश्चय ही सारा वातावरण बदल गया होता। हालाँकि काली को ऐसी साफ कहने वाली कहा जा सकता था, पर वह भी क्यों कुछ नहीं बोली, यह एक प्रश्न अवश्य था।

आगे चलती हुई नाथी ज़रा धीमी पड़ी। एक बार आस-पास देख लेने के बाद हास्य से छलकती आँखों में जिज्ञासा लिये उसने पूछा—"क्यों जीवी भाभी! कल तुम्हें यह क्या सूझा? इतने आदमियों में काना भाई

से लिपट गई।"

इतने दुःख में भी जीवी हँसी। तिरछी नज़र से नाथी की ओर देखते हुए उसने सिर्फ़ इतना ही कहा—"यह सब समझने में अभी तुझे देर लगेगी बहन!"

"नहीं नहीं, पर तुमने तनिक सोचा तक नहीं? यों बगल में ही तो धूला भाई खड़ा था।" कहकर नाथी झिड़की-भरी नज़र से देखने लगी।

"सोचा होता तो फिर ऐसा होता ही क्यों?" और नाथी की ओर देखते हुए कहा—"सच कहती हूँ नाथी बहन, उस समय मुझे कुछ होश ही न था। यह सब हो जाने के बाद ही मुझे होश आया।"

कुछ ठहरकर नाथी ने फिर पूछा—"धूला भाई ने, घर के कोने में मार-पीट तो की होगी, क्यों?"

"क्या तुमने नहीं सुना होगा?" कहकर जीवी नीरस हँसी हँसने लगी।

"नहीं, मैं तो सो गई थी। मेरी भाभी देर तक जागती रही थीं, पर उन्होंने भी कुछ नहीं सुना।"

"मार-पीट हुए बिना क्या सुनतीं?"

"भाभी भी यही कहती थीं। लेकिन धूला भाई अब तक बिना मारे रहा कैसे?"

"यह तो मैं क्या बताऊँ बहन!" कहकर कुछ रुकी। "खादी के यहाँ डण्डा उतरवाने में देर तो लगेगी ही।" कहकर हँसने लगी। भारी साँस लेकर फिर बोली—"यह भी हो सकता है कि कुछ और सोच रहा हो।" नाथी की प्रश्नमयी आँखों को देखकर फिर बड़बड़ाई—"कुछ भी हो।"

"और क्या होगा उसका सिर! तुम्हें जान से मार डालेगा, बस।" और जीवी को "यह भी हो सकता है।" कहती सुनकर नाथी बोली—"तो क्या धूला भाई तुम्हारी तेरही खाने को बच जायगा?"

"क्यों ?" नाथी का जवाब सुनने के लिए जैसे उसके हृदय की गति रुक गई हो।

"क्यों क्या ? कल मेरा भाई कह रहा था कि यदि अबकी बार जीवी भाभी को मारा-पीटा तो गुस्से में भरा कानजी अब उसे न छोड़ेगा।"

जीवी को इससे ज्यादा अच्छी बात और क्या सुननी थी ? फिर भी एक भारी साँस लेकर बोली—"हमारे लिए दूसरे से इस प्रकार कौन लड़ाई मोल लेगा, बहन !"

यदि नाथी नखरे के साथ "अच्छा, अब रहने दो चुपचाप !" कहकर चुप न हो गई होती तो भी जीवी के गले की यह स्थिति न थी कि वह आगे बोल सकती। बोलने के बदले कदाचित् रो ही पड़ती।

जब दोनों पानी भरकर लौटीं तो चुप थीं। अलग होते समय नाथी ने मौन तोड़ा—"भाभी ! यदि वह कुछ मार-पीट करे तो तुम मुझसे कहना, अच्छा ! इस बार तो मेरा भाई ही उसे सीधा कर देगा। काना भाई की ज़रूरत ही न पड़ेगी।"

कृतज्ञता की एक दृष्टि डालकर जीवी अलग हुई।

धूला ने जीवी को क्यों नहीं मारा, यह प्रश्न अवश्य था; पर वह नाड़ी की धड़कन के साथ मन में यही सोचता रहता था—'इस साली राँड ने तो मेरी नाक काट ली—और वह भी भरी सभा में।' और कहीं कोई उस पर ताना न कसे, इस भय से वह आस-पास के खलिहानों में तमाखू पीने भी नहीं जा पाता था।

दूसरा दिन भी उसने अपने खलिहान में ही बिताया। तीसरी रात भी खलिहान में ही सोया।

जब तक चैत्र की तेरस का चन्द्रमा कुछ-कुछ ढला तब तक तो धूला को नींद नहीं आई। उसके व्यग्र मस्तिष्क में बीच-बीच में यह विचार भी आता—'मुझे उठने दो, राँड को मारते-मारते-मारते..... अधमरी कर डालूँगा !' परन्तु दूसरे ही क्षण देवों की परीक्षा लेने के

लिए उद्यत लाल-तांती आँखों वाला कानजी उसकी आँखों के आगे आ खड़ा होता। धूला अक्सर मन में सोचता रहता—'मेरी औरत है और मैं उसका चाहे जो कर सकता हूँ। उसके बीच में बोलने वाला तू कौन है?' पर जब इसके परिणाम पर ध्यान जाता तो उसके पैर काँपने लगते। दूसरी ओर गुस्सा भी ज़ोर पकड़ता। बहुत सारे विचारों के बाद (जीवी को दण्ड देने के ही) धूला उठा। गुदड़ी को लपेटकर झोंपड़ी के कोने में रखा। यद्यपि दबे पैरों जाने की कोई जरूरत नहीं थी, फिर भी इधर-उधर देखते हुए और सावधानी के साथ दूसरी झोंपड़ियों को पार करते हुए वह दो-एक खेत की दूरी पर जलते अलाव की ओर चला।

चाहे तो पैरों की आहट सुनकर जाग गया हो अथवा फिर जागता ही पड़ा हो, पर तुरन्त "कौन है रे?" कहता हुआ रेशमा बैठा हो गया। धूला को देखते ही उसकी छाती धड़क उठी—'साला कुछ उलटा-सीधा करके—राँड को मारकर—तो नहीं आया है।' और झट पूछा—"क्यों, इस समय घर से आ रहा है क्या?"

झोंपड़ी के अन्दर घुसते हुए धूला ने कहा—"धीरे बोल!" और यह सुनते ही रेशमा के शरीर से पसीना छूट गया। "पर साले है क्या? यहाँ मेरे पास क्यों आया है?"

धूला का मुँह फक हो गया। बोला—"क्यों, क्या तमाखू पीने भी न आऊँ! खलिहान में आग बुझ गई···"

"तो आज तू खलिहान में सोने आया है?" और धूला को "हाँ", कहते देखकर रेशमा दो-चार गालियाँ देता हुआ बोला—"तो पहले से ही बताने में क्या होता था?" धूला को तमाखू देकर शान्ति की साँस लेने लगा। उसका धड़कता हुआ कलेजा अभी तक अपनी असली हालत में नहीं आया था। कुछ देर बाद कहा—"मुझे तो चिन्ता हुई कि साला कुछ उलटा-सीधा तो नहीं कर बैठा।"

चिलम में अंगारा रखते हुए धूला ने पूछा—"किसका?"

"किसका क्या! अपनी बहू का! मैंने कहा कि कहीं गला-वला

दबाकर आया है क्या ?''

धूला ने मुँह से लगी चिलम हटाई। रेशमा को ओर देखकर क्रोध-मिश्रित विवशता से बोला—''यदि गला दबाने की हिम्मत होती तो और चाहिए ही क्या था ?'' और उसने बात करने को मिले अवसर को तुरन्त पकड़ लिया—''फिर इस आधी रात के समय तेरे पास आता ही क्यों रेशमा भाई !''

''मैं जानता था कि नाई-ठाकुर बिना मतलब नहीं आयगा। अच्छा, चिलम तो ला !'' कहकर ऊपर उठाये घुटनों पर कुहनियाँ रखकर रेशमा चिलम पीने लगा। धूला पर आँखें गड़ाते हुए सवाल किया, परन्तु धूला को चुप देखकर उसे होठों से चिलम हटानी पड़ी—''बता न, ऐसा क्या काम है ?''

धूला ने फिर बाहर नजर डाली। बोला—''कहता हूँ, पर एक बार तू वचन दे रेशमा भाई ! कि सगे भाई से भी यह बात न कहेगा।''

''अच्छा, यह पत्थर की लकीर है।'' कहकर रेशमा ने धूला के दाएँ हाथ की अँगुली से अपनी अँगुली अड़ाई और चिलम मुँह से लगाने के पहले कहा –''चाहे सिर चला जाय, पर तेरी बात को बाहर न जाने दूँगा।''

''इतना तो मुझे तेरा भरोसा है।'' कहकर धूला ने फिर इधर-उधर देखा। देखते-ही-देखते रेशमा के नजदीक आ गया और धीरे से कान में कहने लगा—''उस राँड के ऊपर तुझे मूठ चलानी है। बस !''

रेशमा चौंक उठा—''लेकिन किस राँड के ऊपर ? क्या स्वयं तेरी औरत के ऊपर ! यह तू क्या कहता है ? तेरा दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया है ?''

धूला का चेहरा काले पत्थर-जैसा लग रहा था। बोला—''दिमाग़ ख़राब होने-जैसी बात है तभी तो रेशमा भाई !''

''अरे, लेकिन यदि उस कानिया के ऊपर चलाने को कहता तो भी कोई बात थी, पर खुद अपनी औरत के ऊपर ?···''

"यह ठीक है, पर उसका तो देवों का देव भी आकर कुछ नहीं बिगाड़ सकता, यह मैंने कल देख लिया। इसलिए मुझे तो यह औरत ही मार डालनी है। मेरे घर में ऐसी औरत की ज़रूरत नहीं।"

"अरे, लेकिन ऐसा है तो निकाल बाहर कर!"

धूला ने मुँह के पास लाई हुई चिलम को फिर हटाया और कहा—"यदि निकाल बाहर करूँ तो भी यह राँड.....! लेकिन उसकी अपेक्षा यह क्या बुरा है? उसे भी पता चले कि कोई मिला था!"

एक बार को रेशमा के मन में ऐसा आया कि धूला को लात मारकर झोंपड़ी के बाहर निकाल दे। लेकिन इसी बीच एक दूसरा विचार आया। पूछा—"लेकिन यह कैसे जाना कि मैं मूँठ चलाना जानता हूँ।"

"यह क्या कोई छिपा रह सकता है? तूने ही तो उस दिन मुझसे कहा था। जब मैं उस कानिया के छू-मन्तर से डर रहा था तब तूने कहा था कि नहीं कि ऐसे छू-मन्तर तो कितने ही मेरे गोझे[1] में पड़े हैं!" कहकर हँसता हुआ बोला—"और आज तू मुकर क्यों रहा है?"

रेशमा की समझ में यह नहीं आया कि इस आदमी को पागल कहे या चतुर? उस पर हँसे या गुस्सा करे? और नंगे बदन बैठे धूलिया के दाएँ हाथ के चाँदी के कड़े की ओर देखता हुआ वह किसी विचार में डूब गया।

खेतों में फैली चाँदनी ऐसी धुँधली-धुँधली थी जैसे बिलकुल उदास हो। खलिहान में पड़े गेहूँ के भूसे के ढेर भी अपने अस्तित्व का ज्ञान कराने के लिए पूरी तरह चमक रहे थे। बगल का गाँव लम्बी चादर ताने सो रहा था। पश्चिम दिशा में ढलता हुआ चाँद इस प्रकार ठहरा दिखाई देता था जैसे वह रेशमा और धूला के बीच होने वाले कौल-करार को सुनने में दत्तचित्त हो।

१. यह ब्रज के ठेठ ग्राम में प्रचलित शब्द है, जिसका अर्थ 'जेब' होता है। गुजराती की लोक-भाषा का सांस्कृतिक ऐक्य की दृष्टि से ब्रज की लोक-भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रेशमा की झोंपड़ी से कुछ ही दूर पर कानजी की झोंपड़ी थी। आज भी वह कल रात की तरह जागता पड़ा था। उसे प्रतिक्षण ऐसा अनुभव होता रहता था जैसे जीवी की पीठ पर चक्की के पाट गिर रहे हों। आज दो दिन से उसके कान धूला के घर की ओर लगे थे। आज भी उसे लग रहा था—'अभी धूलिया बैठा हो जायगा, अभी जीवी की चीख सुनाई देगी।' एक बार तो जीवी की चीख का-सा भ्रम होने पर उसने लाठी भी सँभाली। दूसरी चीख सुनने के लिए कान लगाये, पर पहले-जैसी ही गहन शान्ति देखी तो लाठी फेंककर हँस पड़ा। अपनी इस मूर्खता से वह ऊब गया—'यदि मार भी डालेगा तो तुझे उससे क्या? तेरा और उसका क्या सम्बन्ध है, जो तू इस प्रकार पक्ष लेने के लिए दौड़ने को तैयार हो जाता है?' परन्तु दूसरी ओर उसका दिल पहाड़ पर चढ़कर पुकारता था—'नहीं नहीं, वास्तविक सम्बन्ध तो मेरा और उसीका है। धूलिया का तो कुछ भी नहीं है। वह तो केवल उसके शरीर का ही मालिक है। पर उसके प्राण तो···' लेकिन इन विचारों से भी वह तंग आ गया। एक भारी साँस लेकर बोला—'नहीं-नहीं काना, इस अपना-पराया करने में कोई सार नहीं। दुनिया तो तुझे ही मूरख कहेगी।' और उसकी व्यावहारिक बुद्धि ने उसे सुझाया—कि वह गाँव छोड़कर—अधिक नहीं तो कुछ दिनों के लिए ही—किसी दूसरी जगह चला जाय। उसने निश्चय भी कर डाला।

दूसरे दिन उसने अपना यह निश्चय हीरा को भी बता दिया—"हीरा, मेरा विचार है कि मैं इन गर्मी के फुरसत के दिनों में दो महीने कहीं नौकरी कर आऊँ!"

"बात तो ठीक है, पर तुझे नौकरी मिलेगी कहाँ? क्या कहीं खोज ली है?" हीरा ने पूछा।

"खोजी तो नहीं, पर अपनी जात का वह कुबेर भाई है न? उसके पास जाऊँगा। चाहे जहाँ लगा देगा। और अपने गाँव का नाना कटारा भी तो वहीं है?" कहकर हँसता हुआ वह बोला—"ओहो!

अरे, इतने आदमी जाते हैं; जब उनको नौकरी मिल जाती है तो क्या मुझे नहीं मिलेगी ?"

हीरा ने सोचा कि भले ही नौकरी न मिले, पर इस प्रकार कुछ समय के लिए कानजी दूर हो जाय तो अच्छा ही है और इस बिछुड़ती जोड़ी के शोक में एक भारी साँस लेता हुआ बोला—"हाँ-हाँ, बहुत अच्छा है। दो महीने को चला जा !"

उसके बाद बड़े भाई के सामने भी यह सब बात रखते हुए वह बोला—"चार पैसे मिल जायँ तो दिवाली तक उस बनिये का भुगतान हो जाय।"

पैसे की बात आते ही भाभी तो झट राज़ी हो गई, पर बड़े भाई को यह ठीक नहीं लगता था। घर की मजदूरी से परदेश की मजदूरी कोई ज्यादा मुश्किल न थी, बल्कि छाया-ही-छाया में काम करना था फिर भी उन्होंने सोचा—'चाहे जो-कुछ हो, है तो परदेश ही।'

बड़े भाई जैसे शरीर से अशक्त थे, वैसे ही हृदय से भी दुर्बल थे। कानजी से 'हाँ' तो कह दी, पर तुरन्त डबडबाते आँसू निकल पड़े। उस दिन जीवी वाली बात पर वे कानजी से नाराज़ हो गए थे। कानजी को धमकाया भी खूब था। परन्तु आज वे पछता रहे थे। उन्हें सन्देह हुआ कि उनके लड़ने के कारण ही कानजी नाराज़ होकर जा रहा है। पूछा—"तू मुझसे नाराज होकर तो नहीं जा रहा है, काना ?"

कानजी की आवाज़ भी धीमी पड़ गई। "नहीं बड़े भाई, तुमसे क्यों नाराज़ हूँगा ? यह तो मैंने सोचा कि फुरसत के दिन हैं, सो यदि चार पैसे मिल जायँ तो अच्छा ही है। और कुछ नहीं तो कम-से-कम कपड़ों का काम तो चल ही जायगा, बड़े भाई !" कहकर कानजी ने हँसने की कोशिश की।

उसके बाद भी बड़े भाई ने कुछ छोटी-मोटी शंकाएँ उठाईं। लेकिन ऐसा करते हुए उन्हें लगा कि इससे कानजी का दिल दुखता है। 'जब उसका बीस-बिसे जाने का मन है तो भले ही चला जाय।'

यों सोचकर बोले—"लेकिन तू आज ही तो नहीं जा रहा है न ?"

"आज तो नहीं, पर कल कपड़े धोकर मैं परसों चला जाऊँगा। यों ही 'जाऊँ-जाऊँ' करके दिन क्यों बिगाड़ूँ ?"

"अच्छा !" कहकर बड़े भाई चुप तो हो गए, पर उनके मन का सन्देह अभी गया नहीं था। मन में सोचते भी थे—'नौकरी से जितना कमा देगा उतना तो भाड़े पर गाड़ी जोतकर ही कूट लेगा। हर साल यही करता है न ?' और इस प्रकार सोचते-सोचते अन्त में उन्होंने भगतजी से मिलने का विचार किया।

भगतजी से भी कानजी ने यही बात कही थी, पर बुद्धिमान् भगतजी को मामला समझते देर नहीं लग सकती थी। कानजी के विचार से तो वे खुश हुए, पर उसका कारण उन्हें दुखी कर रहा था। प्रत्येक कार्य के फल को प्रभु के ऊपर छोड़कर केवल प्रयत्न में विश्वास रखने वाले भगतजी की समझ में यह नहीं आता था कि कानजी जो-कुछ कर रहा है वह ठीक है या ग़लत ? उस पर अधिक चिन्तन भी नहीं किया और "देखें क्या होता है ?" कहकर उसे भावी पर ही छोड़ दिया। उन्होंने ऊपर-ऊपर से कानजी को हिम्मत भी बँधाई—"चाहे जैसा दुःख हो, उसे घोलकर पीना ही सच्चे मनुष्य का लक्षण है। दुःख ही तो मनुष्य को गढ़ता है। इसीमें से तुझे कुछ सीखने को मिलेगा !"

कानजी के बड़े भाई से भी उन्होंने यही कहा—"अच्छा है, जा रहा है तो ! पैसा न लायगा तो कम-से-कम अनुभव तो लायगा ही।"

"इससे कौन इन्कार करता है भगतजी ! लेकिन यह जाता क्यों है ? मुझे तो लगता है कि उस दिन वाली....." और धूला के घर की ओर देखकर आगे बोले—"उस बात के कारण तो नहीं जा रहा ?"

"अरे नहीं रे !" भगतजी हँसकर बोले—"इसमें क्या हो गया ? और यदि लोक-लाज के कारण जाना भी पड़ेगा तो उसे (जीवी को) ही जाना पड़ेगा। उसमें काना का क्या था ? वह तो उससे कोई कहने गया नहीं था कि तू मुझे रोकने आना !" कहकर बड़े भाई को चुप देख-

कर भगतजी फिर कहने लगे—"नहीं नहीं, कानजी और उसमें ऐसा क्या है जो··· और उस औरत के मन में भी ऐसा पाप-जैसा कुछ नहीं है। हाँ, शुरू-शुरू में उसे यहाँ लाने में कानजी का हाथ था इसलिए एक प्रकार का मोह अवश्य है। उस बेचारी का पीहर का रास्ता तो बन्द हो गया है; इसलिए अब पीहर या ननसाल, जो-कुछ भी समझो, एक तुम्हारा या इधर हीरा का—ये दो घर ही हैं न?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं?" कहकर उस दिन जीवी को दी हुई गालियों की याद आते ही बड़े भाई का मुँह कुछ उतर गया। पछताते हुए बोले—"न जाने उस दिन मुझे क्या सूझा? बेचारी को बिना बात गालियाँ दीं। तुम्हीं उससे कहना भगतजी कि इस ओर आवे-जावे।" फिर कहा—"ठीक तो है! उस बेचारी के है ही कौन?"

भगतजी ऐसे मुग्ध भाव से हँसने लगे जैसे इस भोले-भाले व्यक्ति पर हास्य का फुहारा छिड़क रहे हों।

बड़े भाई ने खड़े होते हुए फिर पूछा—"तो कानजी के जाने में और कोई बात तो नहीं है भगतजी? तो भले ही चला जाय। तुम्हारी कही बात भी ठीक है। और कुछ नहीं तो इस बहाने शहर तो घूम आयगा। घर रहकर भी इन फुरसत के दिनों में कौन-सी दौलत कमाता? भले ही चला जाय।"—और यों बड़बड़ाते हुए वे घर की ओर चल दिए।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

●

लाज भी रखी

पूनम के बाद की रात थी। भगतजी, हीरा तथा अन्य मित्रों के साथ अन्तिम बातें करके कानजी आज आधी रात को झोंपड़ी पर आया था। खलिहान में तो कुछ था नहीं। गेहूँ की राशि भी आज घर ले गया था। तो फिर घर न सोकर वह इस झोंपड़ी पर किसलिए आया था? लेकिन इसकी तो खुद कानजी को भी खबर न थी। बड़े भाई ने झोंपड़ी से गूदड़ियाँ लाकर ओसारे में सो रहने को कहा था, पर उसने मना कर दिया। इसका कारण यही था कि इन आठ महीनों से खेत पर सोने वाले कानजी को घर सोने में कुछ परेशानी-सी लगती थी। कभी चारों ओर दूर-दूर तक पहाड़ों पर फैली चाँदनी देखना, तो कभी अँधेरे में तारों भरा आकाश निरखना; कभी आकाश में घूमती एकाकी बदली की ओर दृष्टि लगाना तो कभी गर्जना करके सीम[1] को गुँजाने वाले काले-काले बादलों के रंग-ढंग का आनन्द लेना। इसके अलावा टूटते हुए तारे, तो फिर चमकते हुए जुगनू, उल्लू की घू-घू, तो सामने वाले पहाड़ मे रहने वाले

१. **गांव में किसान के खेत जिस दिशा में होते हैं उसे 'सीम' कहते हैं। सीम वंसे सीमा से बना है, जिसका अर्थ है दूसरे गांव की सीमा तक का वह प्रदेश जिसमें गांव वालों के खेत हों।**

वनराज की दहाड़ें—और इसी प्रकार की कितनी ही विचित्रताओं के साथ आत्मीयता स्थापित कर चुकने वाले कानजी को घर के आगे नींद कैसे आ सकती थी ? गाँव में एक तो गाने का मन ही नहीं होता और यदि हो भी तो कोई गाया थोड़े ही जाता है ! कानजी को चाहे कवि न कहो, पर उसके हृदय को तो कवि-हृदय कहना ही पड़ेगा। और जितना सम्बन्ध शरीर के साथ रक्त का होता है उतना ही सम्बन्ध निर्जन वातावरण में स्पन्दित प्रकृति के साथ कवि-हृदय का होता हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन आज कानजी को न तो आकाश के शिखर के नीचे खड़ा चन्द्रमा बुलाता था और न चाँदनी से हंसते हुए खेत बुलाते थे। महल से भी कहीं अधिक रमणीय लगने वाली झोंपड़ी का मोह भी आज उसे न था। आज तो वह इन सबको अन्तिम नमस्कार करने आया था—कुछ देर अकेला रहने के लिए।

झोंपड़ी में आकर कानजी ने साफ़ा उतारकर एक ओर रख दिया। बिछौना दरवाज़े तक खिसकाया और गूदड़ी को झाड़ने के बाद साफ़े का तकिया लगाकर चिलम भरकर शान्ति से बैठा।

कल तो जाना ही था।

नौकरी को दूसरे की ताबेदारी कहकर धिक्कारने वाला कानजी नौकरी करने वाले आदमियों से अक्सर कहता—"तुम शहर के रहने वाले आदमी गाँव—गाँव की बातें क्या जानो ? यहाँ तो खुले में यह ·····मज़े से घूमना।" आज उसे यह 'यह····मजे से घूमना' छोड़ना पड़ रहा था। लेकिन उसे इसका इतना दुःख न था। इसकी अपेक्षा कई गुना दुःख तो जीवी का था। 'यह बेचारी एक मेरे ही हृदय के कारण यहाँ आई थी और आज मैं ही इसे छोड़कर जा रहा हूँ। इसकी आत्मा क्या कहेगी !' यह सोचने के साथ ही उसने चिलम को बगल में फेंक दिया। मुँह से एक भारी साँस ली। नाक से उसे बाहर निकालता हुआ कहने लगा—"किसे खबर थी कि ऐसा होगा।"

झोंपड़ी के अलाव में पड़े कण्डा से निकलते धुएँ के दो-चार पतले डोरे एक होकर आकाश की ओर चढ़ रहे थे। चन्द्रमा भी ऐसा लगता था जैसे अभी वहीं-का-वहीं खड़ा है तो अभी बाँस बराबर ऊपर जाकर खड़ा हुआ है। रोनी सूरत बनाकर लेटे हुए कानजी को जब अपनी दुर्बलता का ध्यान आया तो वह खड़ा हो गया। बगल में पड़ी चिलम उठाई। तमाखू भरते-भरते मन में कहने लगा—'सच बात है। यह सब 'माया' ही है। परन्तु इस गीता वाले 'माया' शब्द का अर्थ तो इस प्रदेश मे 'प्रेम' होता था।' लोक ग्राह्य अर्थ का विचार आते ही हँसी की ठनक के साथ कानजी कहने लगा—"जो माया लगी है उसीका तो यह परिणाम है।"

तमाखू भी बेहोशी-सी में पिया। फिर उसके हृदय में बेचैनी की खल-बली मचने लगी। जैसे उसके अंग में भड़कन हो रही हो। ऐसे न तो आड़े लेटना ही अच्छा लगता था और न उठकर बैठे रहना ही। जब उसे यह लगा कि वह अभी-अभी रो पड़ेगा तो उसने अपने प्यारे चन्द्रमा की ओर देखा; परन्तु वह भी उसे रोता हुआ-सा जान पड़ा। कानजी ने रोने के बदले गाना शुरू किया—

"क्यों रोवे रे पागल चन्दमा !
क्यों सीम भरे हैं नैन ?
धरती माता क्यों डूबी शोक में—
तेरो हियो भयो क्यों बेचैन ?"

परन्तु इस दोहे के बाद कानजी ने स्वयं अपना विरोध किया—

"नहिं रोवे रे कोई चन्द्रमा
वहाँ सीम में नींद गहराय।
धरती माता तो पड़ी भर नींद में
(यह तो) तेरो हियरो पछाड़ें खाय।"

इसके बाद कानजी कुछ रुका, परन्तु तत्काल ही उसका घुटता हुआ हृदय ऐसे बहने लगा जैसे उसे अपने बहाव के लिए सीधा मार्ग मिल

गया हो। ऐसे निर्बल हृदय के लिए उसने भगवान् की लाख-लाख विशेषताओं में भी एक भूल खोज निकाली—

"खूब बनायो रे ऊँचो आसमान
बिन-दिन को निरालो चांद।
घूमतु राख्यो रे गगन-दीपक
अपनी धरती को मोहि है अभिमान॥
वामें सजायो खूब आदमी
अपनी कला की कलमी समान
(पर) क्यों रे दियो कोमल करेजवा
भूल्यो भूल्यो अरे भगवान॥"

सिर हिलाते हुए और हाथ का इशारा करते हुए कानजी ने अंतिम पंक्ति को दूसरी बार दोहराया—

भूल्यो भूल्यो अरे भगवान।

आज यदि भगवान् भी कानजी की लपेट में आ गया होता तो अनेक बार भगतजी के साथ विचारा गया और उलझन पैदा करने वाला यह सवाल—'अरे भगवान्! हम तो यों धूप में मजूरी करने पर भी भूखे मरें और यह बनिया छाया में बैठा रहने पर भी मज़ा करे। इसका भी कोई कारण है?' तो वह हरगिज़ न पूछता। वह तो जो भगवान् के अदृश्य होने पर पूछता आया था वही उसकी मौजूदगी में भी पूछता—

"पैदा कियो तो प्रभु भलो कियो
भलो राख्यो खान अरु पान।
पर कहा रे पर्‌यो हो बिना प्रीत के
(अरे मूरख) कच्चे धागे ते बांध दिये प्रान॥"

एक भारी साँस लेकर कानजी बोला—"एक जगह प्रेम से अलग रखता है तो दूसरी जगह प्रीत का कठिन पानी चढ़ा-चढ़ाकर हृदय को चूड़ी-जैसा कर डालता है।" और कुछ रुककर "होगा, तेरी गड़बड़ तू ही जाने राम!" कहकर हँसा; लेकिन बिलकुल फीका। वह बड़ी देर तक

चन्द्रमा की ओर ऐसे देखता रहा, जैसे उससे विदा ले रहा हो। बिछौने पर लम्बा होकर फिर सोचने लगा—'न जाने इस प्रदेश में इसे मैं फिर कब देखूँगा !'

एकाकी पथ काटने वाला चन्द्रमा पश्चिम की बंजर भूमि में पहुँच चुका था। धरती ऐसी शान्त थी जैसे वह अन्तिम नींद ले रही हो। नींद से चौंक उठने वाले मुर्ग़े भी 'अभी तो देर है' कहकर फिर शान्त हो जाते थे। कानजी की बन्द आँखों को देखकर ऐसा लगता था जैसे वह भी सो गया हो। लेकिन वस्तुतः वह तन्द्रावस्था में ही था। कभी उसे रहट दिखाई देता था तो कभी अपने को आम के नीचे बैठा पाता था। परन्तु जहाँ जाता था, जीवी उसके आगे-आगे रहती थी।

एकाएक पूर्व दिशा में स्थित गाँव से एक चीख़ सुनाई दी—"मार डाला रे ! वह जा·····ता है ! चोर·····र, चोर, पकड़ना····· ।"

कानजी बिछौने से उछलकर बैठा हो गया। झोंपड़ी में लगी बल्ली को खींचकर, जिस ओर से चीख़ आई थी उसी ओर—धूला के घर की ओर—चारों ओर कान और आँख रखता हुआ, तीतर की चाल से दौड़ा। धूला के घर के पास वाली इमली के नीचे छिपकर मोर्चा सँभालता तथा आस-पास के बाड़ों में आँखें गड़ाता हुआ खड़ा हो गया। इतने में ही पीछे से पैरों की आहट सुनाई दी। मुखिया और एक दूसरा आदमी हाँफते हुए आ रहे थे। कानजी पर नज़र पड़ते ही पूछ बैठे—"कौन है रे ?" और 'कहीं भाग न जाय' इसकी सावधानी रखते हुए डरते-डरते कानजी की ओर बढ़ने लगे।

"यह तो मैं हूँ मुखिया ! मैंने कहा कि यहाँ खड़ा हो जाऊँ। यदि कोई आता होगा तो···"

"अच्छा !" कहकर मुखिया ने तिरछी नज़र से साथ वाले आदमी की ओर देखा और फिर जैसे किसी विचार में हो ऐसे मुहल्ले की ओर मुड़ते हुए बोला—"लेकिन यह चीख़ किसने मारी ?"

पीछे-पीछे चलते हुए कानजी ने कहा—"आवाज़ तो ऐसी लगी,

जैसे रेशमा की हो !''

धूला के घर में शोर-गुल होता सुनकर ही कानजी के पेट में आग लग गई। क्षण-भर में कितने ही विचार घूम गए। घर में घुसते ही नानी बुढ़िया से पूछा—''यह सब क्या है नानी काकी ?''

''देखो तो सही भाई ! बड़ी देर तक तो हम दोनों बैठक में बातें करते रहे हैं। उसके बाद पता नहीं कौन आया और उसने किस जनम का वैर····''

कानजी का धीरज चुकने लगा। बीच में ही पूछा—''लेकिन इसे बैठक में मारा या यहीं···''

''हाय-हाय बैठक में ही ! उसकी खटिया तो देख, खून से सराबोर···''

कानजी के गुस्से का ठिकाना न रहा—''तो तुम इसे घर में क्यों लाईं ?'' कानजी की इस गुस्सा-भरी आवाज ने गाँव के दो-चार लोगों का ध्यान खींचा। एक ने तो यह भी कहा—''अरे भाई ! घर में लाने से क्या बिगड़ गया। बैठक में किसी की भली-बुरी नजर पड़ती, इसलिए हमने इसे घर में ले लिया। इसमें इतना ज्यादा तेज़ क्यों हो रहा है।''

''झख मारने के लिए और क्या ? अब जब काका (सरकार) पूछें तो जवाब देना ! यहाँ लाये तो उसके घर में ही····''

''यह पास था इसलिए जल्दी मे यहाँ ले आए।''

दूसरे ने कहा—''और यदि नानी काकी ने मना कर दिया होता तो किवाड़ खुलवाकर बूढ़े के पास ले जाते।'' और व्यंग्य में पूछा—''लेकिन इसमें इतना ज़्यादा गरम क्यों हो रहा है ?''

कानजी की जीभ पर न जाने क्या-क्या आ रहा था, पर यह आदमी अपने रिश्तेदारों में था और कुछ प्रतिष्ठा वाला भी था इसलिए इतना ही कहा—''तो फिर यह सब थानेदार से कह देना !''

बुढ़िया तो रोने-जैसी हो गई—''हाँ भाई ! मुझे क्या खबर थी कि ऐसा होगा ? दुःख तो यह है कि धूलिया भी घर नहीं है।'' और यों

कहती-कहती वह मुखिया की खोज में इधर-से-उधर मारी-मारी फिरने लगी। मुखिया थानेदार को ख़बर करने की व्यवस्था के लिए बाहर गये थे। लौटकर वह कानजी के पास आई। घबराई हुई आवाज़ में बोली—"क्यों काना, मरा जो कुछ होना था सो तो हो गया, उसे तो मैं ज़रा राख डालकर ठीक कर लूँगी। लेकिन इसे अब मनारे के घर ले जाओ!"

"जो होना था सो तो हो गया, अब क्या है?" कहते हुए कानजी बोला—"इसमें कोई बुराई नहीं। ये सब गवाह हैं न? भले ही यहीं रहने दो!" कहकर कानजी नीचे सुलाये हुए रेशमा की ओर चला।

रेशमा की नाक से बहते ख़ून को देखकर कानजी बोल उठा—"अरे, लेकिन तुम सब देख क्या रहे हो? ज़रा-सी रुई लाओ न! जलाकर घाव में भर दो!" दो-चार आदमी ऐसे ताक रहे थे जैसे वे कानजी के कथन पर विचार करने को उद्यत हों। कुछ कानजी के कथन को ही दुहरा रहे थे—"हाँ रे भाई! कोई रुई तो लाओ!" लेकिन सच पूछो तो कुछ सूझ ही न पड़ता था। कानजी ने बगल में खड़ी बुढ़िया से कहा—"नानी काकी! ज़रा रुई लाओ न?"

दूसरी ओर मुखिया थाने में ख़बर करने की व्यवस्था में लगे थे। उससे निबटकर लौट रहे थे कि आँगन में उनके काका के लड़के भीमा ने धोती का छोर खींचा। मुखिया को कुछ शक हुआ। भाई के पीछे चलते-चलते कहने लगे—"ये चौकीदार कहाँ मर गए। थाने में ख़बर करने को कहा था, पर अभी तो ज़्यादा-से-ज़्यादा तमाखू पीने में ही चिपटे होंगे।"

बाड़े के खलिहान से निकलते हुए भगतजी ने इन दोनों भाइयों को अपने घर के पास खड़ा देखा। कुछ घुस-पुस करने का शक होते ही एक बार तो पीछे लौट जाने को सोची—छिपकर सुनने की लालसा भी जगी। लेकिन दूसरे ही क्षण जैसे कुछ देखा ही न हो, ऐसे नीची नज़र करके चलते हुए खाँसा।

मुखिया को जल्दी में कहते हुए सुना—"तुम जाओ न भाई ! इन दोनों जनों को ही थाने भेज दो ! साली यह क्या गजब की बात है भगतजी ! इतनी उमर हो गई पर ऐसा तो कभी नहीं सुना ! तुम जरा मरहम-पट्टी करो न ! मैं उन चौकीदारों को भेजकर आता हूँ।" कहकर गाँव की ओर जाते हुए बोले—"ऐसा गज़ब तो कभी नहीं देखा।"

मरहम-पट्टी से निवृत्त होकर बाहर आने पर भगतजी ने कानजी से कहा—"इस घर में जो लिया सो एक प्रकार से ठीक नहीं किया कानजी !"

भगतजी के घर की ओर जाते-जाते कानजी ने भी यही रोना रोया। भारी साँस लेकर कहा—"गवाह हैं इसलिए चिन्ता तो नहीं है, पर तो भी न जानने वाले के मन में शक तो रह ही जायगा।"

थानेदार की राह देखता हुआ गाँव अपनी-अपनी रुचि की टोली में मिलकर नाना प्रकार के तर्क कर रहा था। भगतजी के ओसारे में भी भीड़ जमी थी। यदि भगतजी, कानजी और हीरा ये तीनों ही होते तो भी अपने तर्क दौड़ाकर देखते। इन सबके देखते हुए, एक ओर जाकर घुस-पुस करना ठीक न समझकर वे इस समय अपने मस्तिष्कों में ही इधर-उधर की अटकलें भिड़ा रहे थे।

दिन निकलते ही गाँव में घोड़ों की टापें सुनाई देने लगीं। थानेदार, दीवान और दो-तीन सिपाहियों को देखते ही गाँव वालों की छाती पर सिला सरक गई। औरतें तो कह भी रही थीं—"जो नाशपीटा आया है, वह न जाने कितनों का कचूमर निकालेगा।" हर बार एक ही जुर्म करने वाले चार-पाँच जने तो निकलते ही थे। फिर भले ही बाद में एक—और कभी-कभी पूरा एक भी न निकलता।

खटिया में पड़े रेशमा के बयान लिये गए। रेशमा से पूछे गए भाँति-भाँति के प्रश्नों के उत्तर का सार यह था—"मेरा पड़ोसी धूला दूसरे गाँव में अपने जिजमानों की हजामत करने गया है। उसने मुझसे कहा था कि वह रात को वहीं रहेगा। 'बुढ़िया की नींद का कोई ठिकाना नहीं'

कहकर उसने मुझे ताक़ीद की थी कि मैं उसके छप्पर पर पड़े मक्का के भुट्टों की देख-भाल करता रहूँ। इसके लिए मैंने अपनी खाट दोनों बैठकों के बीच में बिछाई थी। मैं नींद में था। किसी ने मेरे सिर पर चोट की। चोट किसकी थी, यह मुझे पता नहीं। चोट करने वाले को मैं तनिक भी नहीं पहचान सका। लम्बा था। शरीर भी गठा हुआ था। क्या-क्या पहने था, इसका मुझे ठीक पता नहीं। लेकिन सब कपड़े पहने था, इसकी मुझे कुछ-कुछ याद है। छप्पर के नीचे होकर वह सीधा खेतों की ओर भागा था। उसके भागने के बाद ही मुझे चिल्लाने का होश आया। इसके बाद लोग आ गए।" आदि-आदि।

यह बयान लेने के बाद थानेदार ने रेशमा की अच्छी तरह तलाशी ली। कुछ और भी सवाल उठे; पर इतने में ही मुखिया ने घायल की बिगड़ती हुई दशा का भान कराते हुए कुछ कहा। थानेदार ने खाट तैयार कराई।

आठ युवक भी चुन लिये गए। उनमें कानजी, हीरा, मनारे आदि भी थे। इनमें से चार युवकों ने रेशमा की खाट को कन्धे पर रखा और पन्द्रह कोस की दूरी पर स्थित सरकारी अस्पताल को चल दिए।

मुखिया के यहाँ जल-पान करने के बाद थानेदार चौपाल पर गये। सारा गाँव—घर पीछे एक-एक आदमी—आकर बैठा था। खाट पर लेटे हुए थानेदार ने हुक्के की नली हाथ में लेते हुए कहा—"वारदात गाँव में हुई है इसलिए गाँव ही मुजरिम का पता लगाकर दे!"

"यह तो है ही सा'ब[1]! गाँव के मामले का पता गाँव ही तो लगायगा।" कानजी के बड़े भाई बोले।

"लेकिन सा'ब! गाँव के नुक्कड़ पर घर है—कोई बाहर का भी आकर" यों कहते हुए मनारे के बूढ़े को "चुप, साला, सूअर! बाहर का काहे को आयगा। उसके पास क्या हीरे-मोती थे? सूअर कहीं का!" कहकर थानेदार को चुप कर दिया। साथ ही इस इल्मी ज़बान और

१. 'साहब' का देहाती बोल-चाल का रूप।

चेहरे ने समूचे गाँव को गूँगा बना दिया।

गाँव था इसलिए यदा-कदा वारदातें तो होती ही रहती थीं, परन्तु ऐसी वारदात कभी नहीं हुई थी। कौन किसको दोषी ठहरावे। अगर मुजरिम पकड़ा गया होता तो अन्त में दो-चार आदमियों ने बीच में पड़कर थानेदार को अनुनय-विनय करके ही पाँच-पच्चीस रुपये मे समझा दिया होता। इसलिए सारा दिन सोच-विचार मे चला गया।

अन्त में मुखिया ने गाँव की ओर से प्रार्थना की—"सा'ब, जो होना था सो हो गया। गाँव में हुआ है तो गाँव दण्ड भोगेगा लेकिन जैसे भी हो वैसे मामले को यहाँ का यहीं दबा दो!"

"यह नहीं हो सकता मुखिया! उस आदमी को अस्पताल न भेजा होता तो अलग बात थी, पर अब तो उसका नाम सरकारी रजिस्टर में चढ़ गया है। फिर भी मैं देखूँगा। लेकिन एक बार मुझे मालूम तो करना ही होगा कि यह मामला क्या है? बचाव के लिए जो-कुछ होगा सो करूँगा।"

"तब तो सा'ब, यह मामला सरकार को ही अपने हाथ में लेना पड़ेगा। हममे से तो किसी को कुछ सूझता ही नहीं। जिसे आप दोषी बतायें उसे ही सामने कर दें। और हम क्या कर सकते हैं?"

दूसरे दिन थानेदार ने मामला हाथ में लिया। एक कोठरी मे खाट बिछाई गई। जाँच शुरू हुई। दूसरे गाँव से आये हुए धूलिया को ही पहले बुलाया गया। 'औरत कैसे की और कब?' इस सवाल से लेकर ठेठ आज तक के उसके चाल-चलन, उसके लिए हुए झगड़े आदि के बारे में पूछा गया।

इसके पहले मुखिया ने एक ही वाक्य मे कह दिया था—"धूलिया, मौका है—जिन्दगी-भर का काँटा निकला जाता है इसलिए जो-कुछ हो सो सब कह डाल!"

मूर्ख धूलिया ने आरम्भ से लेकर अन्त तक सारी बातें कह डालीं। उसके बाद रेशमा को घर में घसीटने वाले लोगों के भी बयान—मौखिक

ही—लिये गए।

घायल को छोड़कर आने वाले कानजी को सिपाही ने खाना खाते से उठाया। लगभग सारा ही गाँव स्तब्ध हो गया था। लेकिन जब से उस रात को मुखिया ने कानजी को छिपा देखा था तभी से उसे भरोसा हो गया था कि यह मामला इधर ही—अपनी ओर ही ढलेगा।

'खैर, देखें क्या होता है? जैसा होगा देखा जायगा।' सोचता हुआ कानजी थानेदार के पास पहुँचा।

थानेदार की आँखों से घबराये बिना ही कानजी ने यह सोचकर कि सच कहे बिना छुटकारा नहीं है इसलिए जो था सो सब—धूला को औरत कराने और अपने तथा जीवी के बोल-चाल होने की बात तक को कबूल कर लिया। अन्त में कहा—"लेकिन सा'ब, मेरे और उसके बीच और कोई सम्बन्ध नहीं। कहो तो गंगाजली उठाऊँ!"

"गंगाजली तो अपने गाँव के सामने उठाना, यहाँ तो कानून की पकड़ में आ गया है। इसलिए बस! सच हो या झूठ; पर अब तू बच नहीं सकता। इसलिए सोच-समझकर जवाब देना! बयान सब तेरे खिलाफ़ पड़ते हैं।"

न जाने क्यों कानजी को देखते ही थानेदार के मन में उसके लिए एक प्रकार का पक्षपात पैदा हो गया। इसीलिए तो बिना गाली के वाक्य बोले। नहीं तो जैसी प्रथा अंग्रेजी में नाम के आगे आर्टिकल लगाने की है वैसी ही प्रथा इस पुलिस-विभाग में—वह भी रियासतों में तो विशेष रूप से—गाली देने की होती है। गुस्सा तेज़ होने पर तो एक साथ चार-पाँच गालियाँ तक इस्तेमाल की जाती हैं। वैसे जब मिजाज ठण्डा हो तो गालियों का अनुपात खिचड़ी में चावल और दाल के बराबर ही रहता है।

उसमें भी कानजी-जैसा साधारण आदमी—वह भी अपराधी—यदि बच जाय तो यह सौभाग्य ही समझो!

कानजी ने उस रात की सारी कहानी कह सुनाई। लेकिन जैसे ही

उसने अपने चीख सुनने और अपने दौड़कर आने की बात कही कि थानेदार की आँखें फटने लगीं। थानेदार को यह तो यकीन हो गया था कि यदि रेशमा को घायल किया गया है तो केवल स्त्री के लिए ही। बिना इसके कोई नाक पर चोट नहीं करेगा। धूला के घर में सुलाये हुए रेशमा को पीछे से लिया गया होगा, यह बात वह मान ही नहीं पाता था। इस विषय में मुखिया से पूछ देखा था और उसने भी कान पर हाथ रखकर कहा था—"भगवान् जाने सा'ब, पर जब मैं आया तब तो यह घर में ही था।" इसके अलावा मुखिया ने गाँव में आई हुई माता के समय कानजी के साथ हुई अनबन, धूला और कानजी की खट-पट! धूला और रेशमा की मैत्री आदि छोटी-मोटी बातें भी बता दी थीं।

थानेदार ने कानजी से कहा—"यदि तू धूलिया के घर में घुसने न गया होगा तो कम-से-कम पहरा देने तो गया ही होगा। सच-सच बता दे! यह मामला तेरे, धूलिया और रेशमा—इन तीन के बीच बना है। इनमें धूलिया तो दूसरे गाँव गया था। सबूत मिलने पर वह तो छूट जायगा। लेकिन तेरा क्या होगा? तू खलिहान से सीधा आ रहा था, इसका कोई सबूत है?"

"हाँ सा'ब, मुखिया और बाला भाई ने मुझे देखा था।"

मुखिया को बुलाया गया। उन्होंने कहा—"हमने तो सा'ब, जो देखा है, वही कहेंगे? कानजी की कही बात तो सच है, पर मैंने इसे इमली के तने से सटा खड़ा देखा था?"

"खलिहान से आते हुए नहीं देखा?"

"नहीं सा'ब!" कहकर मुखिया कानजी के मुँह की ओर देखकर बोला—"जो देखा है सो ही कहा जायगा। मुझसे झूठ तो···"

"लेकिन तुमसे झूठ बोलने को कहता कौन है?" कहकर कानजी हँसा। बाला ने भी मुखिया जैसा ही वचन दिया।

अब धूला की औरत को बुलाने की बारी आई। गाँव के लोग थानेदार के आगे गिड़गिड़ा उठे—"सा'ब, औरत को अदालत चढ़ाने

से तो गाँव की नाक कट जायगी।"

"अच्छा, अबी देखते हैं।" कहकर थानेदार कानजी की ओर हाथ करते हुए बोला—"इसकु पेरे[1] में बिठाओ!" इस वक्त उसकी आँखें बदली हुई थीं।

"पेरे में बैठने से मैं इन्कार नहीं करता सा'ब, पर मेरी एक अरज है।"

"बोल क्या है?"

"सा'ब, इसके अलावा और जाँच भी होनी चाहिए। यदि धूलिया के घर का मामला निकलेगा तो मैं सरकार के हर दण्ड को भुगतने के लिए तैयार हूँ। लेकिन इससे पहले....."

"अच्छा अबी तू जा इधर से!" थानेदार ने गुस्से से कहा। और घड़ी भर हुक्का पीने के बाद मुखिया को बुलाया। रेशमा और दूसरे किसी के बीच हुई तकरार के विषय में प्रश्न किया।

मुखिया ने याद करते हुए कहा—"छः महीने पहले खेत में ढोर घुसने के बारे में हुई थी सा'ब। दाना कटारा तलवार लेकर उसे मारने आया था।"

"अच्छा, बुला दाना कटारा कु!"

बाद में दाना कटारा की तलवार भी मँगाई। दुर्भाग्य से तलवार की नोंक भी लोहू वाली निकली। दाना ने कहा—"सा'ब, इससे मैंने गोह मारी थी।" उसके गवाह भी मिल गए। तो भी दाना को पहरे में ही रखा गया।

रात को भी दोनों को पहरे में ही रहना पड़ता, परन्तु गाँव के लोगों ने और उनमें भी खास तौर से भगतजी ने थानेदार को समझाया—"साहब, यदि भाग जायँगे तो हम —सारा गाँव तो है? इसमें तो सा'ब, गाँव की बुराई दिखाई देती है।"

दिन निकलने से पहले हाजिर होने की ताकीद के साथ थानेदार

१. पहरे

ने उन्हें छुट्टी दे दी।

कानजी को धूला के घर की ओर मुड़ते देखकर बड़े भाई से बोले बिना न रहा गया—"क्या अभी तक पेट नहीं भरा जो फिर···!"

कानजी ने बीच में ही कहा—"तुम जाओ न, मुझे कुछ पूछना है, वह पूछकर ही आऊँगा।" और होट चबाता हुआ वह धूला के घर की ओर चलने लगा। जीवी को जानता था इसीलिए उसे सन्देह हुआ—"हो सकता है कि रेशमा यहीं घुसा हो और बिगड़ी हुई जीवी ने ही उसकी मरम्मत कर दी हो!"

दरवाजे के आगे खड़ी-खड़ी हुलास सूँघती हुई बुढ़िया की परवाह किये बिना ही उसने ओसारे में मिट्टी लगाती जीवी को ओलाती के पास खड़े होकर बुलाया। कानजी को देखते ही जीवी उठी। बिना तनिक भी झिझके उसके पास जा खड़ी हुई। धीमी आवाज से कानजी ने कहा—"जो हो, सो मुझसे सच-सच कह दे। ज़रा भी मत घबरा! जब तक मैं बैठा हूँ तब तक तुझे जरा भी आँच न आने दूँगा। लेकिन जो हो सो!"

"लेकिन है क्या? मुझसे कुछ कहे बिना मैं क्या बता दूँ और तुमसे तो मैं कुछ छिपाऊँगी नहीं।" जीवी की आवाज कुछ ढीली पड़ गई।

"मैं कहता हूँ, यह वारदात तेरे घर में तो नहीं हुई?"

साधारण दिन होते तो जीवी को शायद यह बुरा लगता, पर आज के प्रसंग की गम्भीरता वह समझती थी। इसलिए उलटे-सीधे प्रश्न न पूछकर उसने जवाब दिया—"नहीं, इसके लिए तुम निश्चिन्त रहो, ऐसा कुछ भी नहीं है।"

"क्या उस समय तू जाग रही थी?"

"जब तक तुम गाते रहे तब तक तो मैं जागती रही। उसके बाद घड़ी-भर के लिए आँख लगी कि यह चीख सुनाई दी।"

"बाहर कोई मार-पीट सुनी?"

"नहीं, ऐसी कुछ नहीं सुनी!"

"ऐसा है ?" कहकर कानजी बोला—"तो कोई चिन्ता नहीं।"

अब तक धड़ा-धड़ जवाब देती जीवी की आँखों से फल-फल करते आँसू टपक पड़े। कहा—"तुमको···जेल में···"

जीव की पीठ पर हाथ फेरने का, उसे हृदय से लगाने का मान तो बहुत हुआ; पर कानजी ने मन को वश में कर लिया। बोला—"नहीं रे, किस की ताकत है जो मुझे बिना अपराध के जेल में···"

आनन्द और शोक में गोता खाती जीवी बोल उठी—"मेरी सौगन्ध खाओ ! तुम्हारे हाथ से तो ऐसा कुछ नहीं हुआ न ?"

"अरे क्या पागल हुई है ? और यदि मेरे हाथ से हुआ होता तो मैं सीधा थानेदार के पास न जाता जो उलटा···"

"लेकिन फिर तुमको···"

"तू देख तो सही ! अन्त में सत ऊपर तर आयगा और यदि न तर आयगा तो जायगा कहाँ ? इस कानजी को तू ऐसा-वैसा न समझना ! दो दिन में ही मारने वाले और मार खाने वाले सबको हाथ पकड़-पकड़कर···" लेकिन झट उसने बात बदल दी—"तू अपने को सँभालना, मेरी कोई चिन्ता न करना !" कहकर घर की ओर चला। कुछ याद आते ही फिर ओसारे में गया चौखट पकड़कर अब भी कोई कौतुक-सा देखती खड़ी नानी बुढ़िया से कुछ सवाल पूछे। जाते-जाते कह गया—"नानी काकी, तुम्हारे लड़के ने बहुत अच्छा किया है। भलाई का ऐसा बदला देगा, इसकी तो मुझे स्वप्न में भी आशा न थी।"

"नहीं-नहीं, काना भाई ! जरा सुन तो सही। मुझसे पूरी बात तो कह···!" धूला ने क्या बयान दिया है, इसका बुढ़िया को अभी तक पता न था।

"अपने लड़के से ही पूछ लेना !" कहकर कानजी सीधा घर की ओर चल दिया।

भगतजी ने उसे बुलाया। पर उनको 'खाना खाकर आता हूँ' कहकर चुप कर दिया।

इस समय उसका मस्तिष्क कुछ और ही ढग से काम कर रहा था।

बुढ़िया ने जीवी से पूछा—"क्या था बहू ? काना क्या कहता था ?"

जीवी का मुँह फक था। सास की ओर कड़ी नजर डालते हुए वह बोली—"तुम्हारे लड़के के पराकरम और क्या ? उन्हें जेल भेजकर अब तो सब खुश हो गए न ?"—जीवी क्या कह रही थी, इसका पता स्वयं उसको भी न था। सास को भी ऐसा ही लगा—"यह क्या कहती है बहू ? किसको जेल भेज दिया और किस बात···?"

"जेल जाने में अब रहा ही क्या है ? दुनिया में ढिंढोरा तो पिट ही गया कि फलाने को पेंर[1] मे रखा गया।"

बुढ़िया से न सहा गया—"अरे, लेकिन इसमें तेरे बाप का क्या गया ? और फिर तुझे इतना ही प्रेम है तो जा, छुड़ाकर ले आ न ! अब भी क्या बिगड़ गया है ?" कहकर बड़बड़ाई—"जरा शरम कर ! 'ओढ़ लई लोई तो क्या करेगा कोई !' जैसा यह क्या करती है मेरी बहना ! बोलने में कुछ तो लिहाज कर···"

जावो सोच रही थी कि यदि यह बुढ़िया किट्-किट् करना न छोड़ेगी तो वह उससे भी आगे बढ़कर कुछ कह डालेगी। खत्ती के पास बैठती बोली—"चुपचाप घर जाओ ! तुम सब शरमदार हो, यह मुझे ख़बर है।"

बुढ़िया को गुस्सा तो बहुत था पर 'किसी को पता चलेगा तो क्या कहेगा ?' इस डर से "बोल बहना बोल ! आजकल तेरे दिन हैं !" यों बड़बड़ाती हुई घर में चली गई।

सारा गाँव यह जान गया था कि धूला ने कानजी के खिलाफ़ बयान दिया है। दीये की धुँधली रोशनी में खाना खाने बैठा हुआ गाँव लगभग एक ही बात कर रहा था— "सच-झूठ तो भगवान् जाने, पर धूलिया ने इतने दिनों से इकट्ठा किया हुआ गुस्सा आज कानजी पर उतार दिया है।" परन्तु जीवी के गुस्से का तो आजपार ही नहीं था। यदि घर में छोटा देवर और बुढ़िया न होते तो इसमें कोई सन्देह नहीं

१. पहरे।

कि वह खाना माँगते धूला के सिर पर हँडिया ही फोड़ देती। आज उसे उसका मुँह देखना भी अच्छा नहीं लग रहा था। वह मन-ही-मन कह रही थी—'न जाने, ऐसा मूरख मेरे भाग्य में कहाँ से बदा था।'

दूसरी ओर भगतजी के यहाँ भगतजी, कानजी और हीरा तीनों मिलकर विचार-विनिमय कर रहे थे। मामला औरत के बारे में बना है, इसमें तो किसी को सन्देह न था, पर किसके यहाँ बना है, यह अनुमान करना बहुत कठिन था। तीनों जने विचार-मग्न हो गए। कानजी भी गाँव की एक-एक युवती के चाल-चलन के साथ रेशमा का हिसाब लगाने बैठा। भूतकाल के पर्तों के नीचे दबी घटनाओं को एक के बाद एक बाहर निकालकर रख रहा था। यकायक उसका चेहरा खिल उठा। आँखें मानो कह रही थीं—'बन गया काम, बिलकुल यही है!'

कानजी ने इधर-उधर एक नज़र डाल ली। धीरे से बोला—"देख हीरा, चाहे सिर कट जाय, पर बात न जाय, समझा!" कहकर भगतजी की ओर देखते हुए धीरे से कहा—"क्यों भगतजी, भीमा के घर तो गड़बड़ी न हुई होगी?"

भगतजी ने हँसकर पूछा—"कैसे जाना?" लेकिन उनकी शक्ल कह रही थी—'ठीक है कानजी!'

इसके बाद भगतजी की बुद्धि ने थानेदारी सँभाली। कानजी ने तड़ातड़ जवाब दिये।

यह सब ठीक-ठीक मिलते देखकर हीरा के आश्चर्य की तो सीमा ही न रही। आज उसे भगतजी और कानजी बहुत ही क़ाबिल आदमी लग रहे थे।

दूसरे दिन थानेदार पंचों के साथ धूला के यहाँ आए। बुढ़िया और जीवी से खूब घुमा-फिराकर पूछा। लेकिन वह "मैं तो घर में थी। चीख सुनी तब जागी और सास ने तब जाना जब किवाड़ खुलवाये।" यही जवाब देती रही। गाली देने पर भी परिणाम वही का वही था। अधिक पूछने पर जीवी रो पड़ी।

थानेदार ने चौपाल पर आकर मुखिया को बुलाया। कहा—"मुखिया, बना-बनाया काम बिगड़ा जाता है!—कानिया तो साला छूटा जाता है।"

"यह तो आप जानें सा'ब! लेकिन मैंने आपसे कहा न कि यदि आप इस औरत के टुकड़े भी कर दें तो भी वह कानजी का नाम न लेगी।" कहकर मुखिया भी ज़मीन कुरेदते हुए कुछ सोच में पड़ गए।

"मगर हमकु तो पक्का सबूत मँगता। ये मामला कोई दुसरा मालुम होता है।" थानेदार ऐसे बोले जैसे स्वगत कथन कर रहे हों।

"दूसरा मामला तो क्या हो सकता है सा'ब! जो है सो यह है।" कहकर मुखिया थानेदार की ओर सरके। हँसकर विवशता दिखाते हुए बोले—"ऐं सा'ब! इस मामले को दबा दो तो? वह आदमी है तो आन गाँव का इसलिए यदि आप कहें तो उसे अस्पताल से सीधा बाहर कर दें।" कहकर थानेदार को विचार-मग्न देखकर कहा—"ग़रीब की बात मानो तो ऐसा ही करो सा'ब। गुन[1] नहीं भूलेंगे।"

"गुण याद रखकर क्या करेगा?" थानेदार ने हँसकर मुखिया की ओर देखा।

"जो भेंट-पूजा हो सकेगी सो सा'ब!" और 'तो बी' कहकर देखते रहने वाले थानेदार के हाथ की अँगुली दबाते हुए बोले—"इतना—हमारी हैसियत के अनुसार सा'ब!"

"इतना-वितना कुछ नहीं मुखिया! इसका डबल हो तो बात करो, नहीं तो सारे गाँव को कोर्ट में घसीटूँगा।"

"ठीक है सा'ब! आप मालिक हैं।" कहकर मुखिया यह खुश-खबरी सुनाने के लिए बाहर आये।

गाँव के लोगों ने हिसाब लगाया—"तो भरेंगे, घर पीछे रुपया ही आयगा न? इसमें भी यदि थानेदार साहब दो-चार दिन और रहे होते तो खर्चे के भी चार-चार आने तो आते ही।" तो किसी ने शंका

१. गुण। अभिप्राय अहसान से है।

उठाई—"गाँव के लोग सारे-का-सारा पैसा क्यों दें ? आधा दे कानजी।"

"बात तो ठीक है। पूछ देखो उसके बड़े भाई से।" कहकर मुखिया ने बड़े भाई को एक ओर बुलाया। भगतजी समझ गए। वे भी वहाँ जा खड़े हुए। और बड़े भाई को "गाँव ऐसा कहता है तो ऐसा ही सही, क्यों भगतजी ! अपने से कुछ···" यों कहते सुनकर ही भगतजी बोल उठे—"कुछ नहीं हो सकता मुखिया ! कानजी एक कौड़ी भी न देगा। यह तुमसे कह दिया।" बड़े भाई की ओर देखकर उसी कड़ाई से कहा—"कहाँ से लाकर दोगे ? उसके परदेस जाने के लिए तो पूरा किराया तक नहीं जुटता। इसलिए कुछ न कहकर चुप रहो न !" और पीठ फेरने से पहले ही हतप्रभ हुए मुखिया से फिर कहा—"जाने दो मामले को आगे। परदेस जाने के बदले अगर जेल में रह आयगा तो भी इन गर्मी के दिनों में क्या सूखा जाता है ? लो, चलो !" कहकर भगतजी ने बड़े भाई को आगे किया और फिर चौपाल में आ गए।

बड़े भाई तो बेचारे भगतजी के मुँह की ओर ही देख रहे थे। उनके अन्तिम वाक्य ने तो भारी उलझन पैदा कर दी थी—"भगतजी यह क्या कह रहे हैं ? कहते हैं कि जेल में रह आयगा। कैसी बात करते हैं ?"

मुखिया ने उनके विरोधी आदमियों को फिर समझाया—"अरे भाई, कालजी के ऊपर से तो केस हट गया है। एक चार-चार आने के लिए क्यों गाँव की बेइज्जती कराने बैठे हो ?"

अन्त में सब राज़ी हो गए।

घर पीछे एक-एक रुपया डालने पर भी पाँच रुपये कम पड़ते थे। एक जना बोल उठा—"ये पाँच रुपये दें धूलिया और मनारे दोनों।"

तुरन्त मनारे का बूढ़ा बोला—"हाँ, मनारे ले आयगा और डाल देगा। मनारे का बेटा क्वारा है न, जो लाकर डाल देगा।"

तीसरा आदमी कहने लगा—"नहीं-नहीं, ऐसी ग़लत बात कैसे कही जा सकती है। एक तो मनारे का किसान घायल हुआ और ऊपर से वह दण्ड दे। कहीं ऐसा होता होगा ? हाँ, धूलिया से कहो तो कोई

बात भी है !''

लेकिन उधर कानजी और भगतजी में कुछ और ही बातें हो रही थीं। कानजी को अपने छूट जाने की जरा भी खुशी न थी; बल्कि वह तो भगतजी से विरोध ही कर रहा था—''नहीं भगतजी, थानेदार को जो रिश्वत दे रहे हो सो तो ठीक है, पर इस मामले की छान-बीन तो होनी ही चाहिए।''

''अरे भले आदमी, लेकिन छान-बीन कराके अब तू करेगा क्या ?''

''करूँगा क्यों नहीं ?'' कहकर भगतजी की ओर देखते हुए कानजी ने आगे कहा—''इससे कलंक तो हमारे ऊपर बना ही रहा न ?''

''अजीब आदमी है। थानेदार ने मुखिया को बुलाकर कहा तो है कि कानजी निर्दोष है। फिर कलंक तुझ पर क्यों रहेगा ?''

''मेरे ऊपर न रहेगा तो उस औरत के ऊपर तो रहेगा ही।'' और विचार-मग्न भगतजी से कानजी ने फिर कहा—''मुखिया थानेदार सा'ब से जो-कुछ कह रहे थे वह सब मैंने खिड़की के सहारे खड़े-खड़े सुन लिया है। उनका विचार है कि उस रेशमा को भगा दो। इस प्रकार यह सारा केस ही खत्म हो जायगा। यह तो ठीक है, पर उस औरत पर तो कलंक रहेगा ही। लोग कैसे जानेंगे कि यह मामला धूलिया के यहाँ नहीं, बल्कि किसी तीसरे के यहाँ बना है। इसे एक बार साफ़ तो होने ही दो। फिर तुम्हें कुछ न करना हो तो भले ही न करना !''

भगतजी कुछ बोले नहीं, पर मन में तो स्वीकार किया ही—''बात तो ठीक है। जीवी पर कलंक रहा तो वह उसे कैसे सह सकेगा।''

इसके बाद मुखिया और गाँव के लोगों की परवाह न करते हुए, थानेदार के सामने मामले की छान-बीन के लिए अरज करते कानजी के साथ, भगतजी ने भी स्वर-में-स्वर मिलाया—''गाँव के पंच एक बार जाँच कर आवें। बाद में शक की जगह आप जाँच कर लें !'' आदि सलाह देकर पंचों को भी खड़ा कर दिया।

मुखिया और न समझने वाले गाँव के लोग भी कच्चा रहे थे। पर

क़ानून के मुताबिक थानेदार के हुक्म के सामने किसी की क्या चल सकती थी ? पंचों में भगतजी और मुखिया तो थे ही। इसके अलावा ठाकुरद्वाओं में से धना बूढ़े को लिया और बाकी दो जनों की जगह के लिए गाँव के लोगों ने कानजी तथा मनारे के बाप को आगे कर दिया।

दो घण्टे में पंच वापस आये। शक वाले तीन घर निकले थे। उनमें से एक में दरवाजे पर पड़े लोहू के दागों के बारे में सवाल करने पर थानेदार को पता चला कि बैल के कीड़े पड़े थे।

पंचों के साथ थानेदार और दूसरे सात-आठ आदमी भीमा पटेल के यहाँ आये। पंचों की ओर से कानजी द्वारा दिखलाये गए पत्थर, खूँटा, चौखट आदि को देखने के बाद ये पच्चीस के लगभग आँखें (एक आदमी काना था) घर में हुए एक गड्ढे की ओर लग गईं।

सबके मस्तिष्क में भीमा पटेल की जवान लड़की घूम गई।

"यह तो बिलकुल ढोरों वाला घर है इसलिए गड्ढे तो होंगे ही।" मुखिया बोल उठा—"घर में कोई करने वाला नहीं है इसलिए···"

"ईसके घर में कितने ईन्सान हैं।" थानेदार ने भगतजी से पूछा।

"दो साहब ! एक खुद भीमा पटेल—वह जो खड़ा है और दूसरी उसकी ब्याही-थ्याही लड़की।"

"मेरे काका का लड़का है—भाई लगता है सा'ब !" मुखिया ने आगे बढ़कर ऐसे कहा जैसे थानेदार जानते न हों और फिर बोले—"और ऐसे गड्ढे तो सा'ब, गाँव में बहुत-से घरों मे होंगे। आप पधारें तो दिखाऊँ।"

"किसी ढोर के कीड़े-वीड़े पड़े थे मुखिया ?" थानेदार ने पूछा।

"हाँ-हाँ सा'ब ! पड़े थे और हमने···हाँ क्यों भाई !" और भीमा की ओर देखकर—"हमारी चँदुली भैंस के तो अभी-अभी भरे हैं न ?"

थानेदार ने आस-पास देखकर गाँव के लोगों से पूछा—"क्युँ रे सच बात है ये ?"

लगभग सभी एक-दूसरे की ओर देख रहे थे।

घबराते हुए मुखिया के मुँह से निकल गया—"बोलो न भाई! कोई तो 'हाँ' कहो। क्यों सब मिलकर मेरी नाक कटाने बैठे हो?"

"हाँ हाँ सा'ब! भैंस के कीड़े पड़े तो थे।" कानजी के बड़े भाई ने शुरूआत की। इसके बाद तो दूसरे दो-चार जनों ने भी गरदन हिलाई।

कानजी को बड़े भाई पर इतना ज्यादा गुस्सा आ रहा था कि जितना उसे कभी किसी दुश्मन पर भी न आया होगा।

"अच्छा तो बयान लेने की क्या जरूरत है?" कहकर थानेदार पीठ फेरने को हुए कि कानजी बोल उठा—"लेकिन सा'ब! यह कैसे माना जा सकता है कि ये गड्ढे ढोरों के हैं। होंगे भी तो भी सार के आगे होंगे। यहाँ ठेठ चौके के सामने कैसे होंगे?

थानेदार को विवश होकर खड़ा रह जाना पड़ा।

"हाँ साहब, यह कुछ विचार करने लायक तो है।" गड्ढों की ओर देखते हुए भगतजी ने कहा।

"अरे भाई, यह पणहरी है तो क्या ढोर यहाँ पानी पीने न आते होंगे? तू भी कानजी ऐसा पागलपन की बात न कर तो·····?" मुखिया का मुँह तरस खाने लायक था।

"भाई कानजी! यह माथापच्ची छोड़!" दो-चार जने बोल उठे और थानेदार की ओर देखकर कहा—"हाँ सा'ब! हमारे यहाँ तो आधे ढोरों को घर पर ही पानी पिलाया जाता है। कोई पणहरी के सामने पिलाता है तो कोई···"

"ठीक है।" थानेदार ने कहा। और कानजी को कतराती आँखों से देखते हुए पूछा—"अब तो ठीक है न?"

कानजी को गुस्सा आ रहा था। 'उस जगा के घर तो गूदड़ियाँ और सब चीजें देखीं पर यहाँ कैसा 'ठीक है' 'ठीक है' हो रहा है।'

तो दूसरी ओर भगतजी भी सोच रहे थे—'यह तो बिलकुल किनारे आकर नाव डूब रही है' और गाँव के लोगों की ओर कुछ आँख फेरते हुए बोले—"तुम भी क्या हाँ-में-हाँ मिलाते हो! गड्ढे का आकार तो

देखो। इतना बड़ा गड्ढा जब सार में नहीं होता तो घर में कैसे हो जायगा।"

और कोई होता तो थानेदार ने उसे धमका दिया होता। फिर गाँव के लोगों ने भी "अब तो हम सभी समझ गए हैं भगतजी! पर बुराई पर धूल डालनी चाहिए या उसे और उजागर करना चाहिए?" यह कहकर जो थोड़ी-बहुत धूल थी वह भी हटा दी। और जैसे अभी कुछ कमी रह गई हो ऐसे कानजी ने पूरा किया—"और सा'ब यह माना कि! ढोर के खुर से गड्ढा होता है, लेकिन उससे तसले की तरह ढाल वाला होगा या ऐसा—पतीली की तरह खड़े किनारे वाला?"

थानेदार को विवश होकर मामला दर्ज करना पड़ा। दूसरे किसी आदमी की तलाशी लेने की आवश्यकता न जान पड़ने पर भी चक्कर तो लगाना ही पड़ा। लेकिन गाँव में हल्ला हो गया कि यह मामला धूलिया के यहाँ नहीं बना बल्कि भीमा पटेल के यहाँ बना है। इसके बाद तो 'खुली बात दो कौड़ी की' के अनुसार सभीकी आँखों के आगे से पट्टी हट गई—बुद्धि के ऊपर का आवरण हट गया—'सच है, भीमा की लड़की दिवाली और रेशमा में कुछ सटर-पटर तो चल रही थी।'

और नानी बुढ़िया तो इतनी अधिक प्रसन्न हुई कि यदि कानजी नज़र पड़ गया होता तो उसके पैर धोकर पीती। यदि न पीती तो कम-से-कम पीने-जैसी तत्परता तो अवश्य दिखाती। अकेली बड़बड़ा रही थी—'काना ने मेरे लड़के का घर बसाया सो तो बसाया ही, आज नाक भी रख ली।'

सारे गाँव में कानजी की बुद्धि और साहस तथा भूला के प्रति किये गए उसके इस उपकार की प्रशंसा हो रही थी, परन्तु धूला कानजी के ऊपर खार खाये बैठा था। मन में सोच रहा था—'इससे किसने यह चतुराई दिखाने को कहा था जो मेरी आबरू बचाने दौड़ा। उस जनम का बैरी है इसलिए जहाँ देखो तहाँ बाधा डालता रहता है।'

जब कि जीवी के आनन्द का तो पार ही न था। और यह आनन्द

जितना उसके स्वयं के कलंक से बचने के कारण था उससे कई गुना अधिक इस बात का था कि कानजी जेल जाने से बच गया। इसके लिए उसने कितनी ही मनौतियाँ मनाई थीं, दूध-घी न खाने की प्रतिज्ञा की थी। यदि उसका वश चलता तो यह समाचार सुनते ही वह कानजी की बलैयाँ लेने—उसके गले से लिपटने के लिए दौड़ गई होती। घर में घुसते समय कानजी ने भी उसे आगे बढ़कर लिया होता। लेकिन वर्तमान स्थिति में तो वह कानजी की बलैयाँ उसके भगतजी के यहाँ आने पर दूर खड़ी होकर, केवल नज़र से ही ले सकती थी और उसका स्वागत केवल आँखों के अमृत से ही कर सकती थी।

सोलहवाँ प्रकरण

●

विदा

मानव के मन का—उसकी भावनाओं का कोई भी ठिकाना नहीं। क्षण-भर पहले जिसके लिए घृणा की वर्षा करता रहता है उसीके लिए बाद में वह आँसू भी बहाने लगता है। क्षण भर पहले जो अनीति जान पड़ती है वही क्षण-भर बाद आदर्श नीति हो जाती है।

कान जी के विषय में भी यही बात थी। गाँव के लोग उसकी प्रशंसा करने में जुट गए थे—'यदि कानजी ने इतना साहस न किया होता तो बेचारे धूलिया का कौन वारिस होता? यह तो अकेला कानजी ही ऐसा निकला कि मुखिया से जनम-भर के लिए दुश्मनी मोल ले ली और बाघ-जैसे हाकिम का सामना भी किया।'

लोगों की प्रशंसा सुनकर कानजी को हँसी आती—'मार डालने के बाद छाँह में रखने-जैसी बात करते हैं न?' और परदेस जाने में डग-मगाते जी से कहा—"चल मनुआँ, अपने को तो जाना ही है। यही ठीक है।"

जब से जीवी ने भगतजी के यहाँ होती कानजी के जाने की चर्चा सुनी थी तब से उसके हृदय में बेचैनी पैदा हो गई थी—'क्या मुझसे बिना मिले ही चले जायँगे? कहाँ मिलूँ? किससे कहलाऊँ?' तो फिर

यह भी सोचती—स्वयं अपने से यह प्रश्न भी करती—'तू उससे क्यों मिलना चाहती है ? मिलने पर क्या कहेगी ? क्या परदेस जाने से रोकना है ?' और गद्-गद् हृदय से मन को समझाती—'नहीं नहीं, क्यों बेचारे एक दुखी प्राणी को और दुखी करती है। यदि परदेस जाने से वह सुखी हो सकता है तो उसका जाना ठीक ही है। तू मत बोलना जीवी ! मना करके असगुन न करना। उसका जाना ही ठीक है।'

परन्तु इस मिलने के विषय में कानजी के मन में जो उथल-पुथल मच रही थी उसे जीवी क्या जाने ? इस उथल-पुथल के कारण ही तो उसने दो दिन की देर कर दी थी। मैं उससे क्यों मिलूँ और मिलूँ तो कौन-सा मुँह लेकर ? मेरे एक बार के कहने से ही आने के लिए तैयार होने वाली इस जवान छोकरी ने कैसे-कैसे हवाई किले न बनाये होंगे ? लेकिन मैंने यहाँ आने के बाद से एक दिन भी उससे जी भरकर बातें नहीं कीं। उस पर ऐसी-ऐसी मार पड़ती है, पर मैंने उसे बुलाकर कभी सान्त्वना के दो शब्द भी नहीं कहे। तो अब मैं उसे किस मुँह से मिलने के लिए बुलाऊँ ? यहाँ रहते हुए ही मैंने उसे कौन-सा लाभ पहुँचाया है ? उलटा उसने मेरे कारण मार खाई है और पति-पत्नी में झगड़ा हुआ है सो अलग। यही क्या कम है, जो उसे बुलाकर और कुछ होने का अवसर दूँ।' और इस प्रकार सोचते-सोचते कानजी ने जीवी से मिलने का विचार ही छोड़ दिया।

परन्तु चलते समय जीवी को देखे बिना उससे न रहा गया। 'न जाने फिर कब आना हो ? तब तक न जाने कौन जिया और कौन मरा ? जाने से पहले उसे एक बार देखता तो चलूँ। साथ ही भगतजी से भी उनके घर मिल लूँगा।' और यह सोचकर कानजी, बड़े भाई को समझाने के बाद भगतजी से मिलने चला।

कुछ ही देर पहले जीवी छाछ लेने के बहाने गाँव में घूम आई थी। कानजी घड़ी-भर बाद चला जायगा, इस बात का पता भी वह लगा आई थी और उसके घर के आगे से निकलती हुई उसे साफ़ा बाँधते हुए

देख भी आई थी। घर आने पर भी उसकी आँखें तो भगतजी के यहाँ ही लगी थीं। ओसारे में ही कभी तो वह कूड़े के टोकरे भरती तो कभी बाहर के खूँटे से रस्सा खोलकर गही करती। और इस प्रकार वह इधर-से-उधर चक्कर लगाने लगी। हाथ-मुँह धो चुकने पर भी पानी का लोटा भरकर फिर ओलाती के आगे बैठ गई। हाथ-मुँह धोने के बाद उसकी दृष्टि छप्पर के नीचे पड़े गोबर पर पड़ी। वह टोकरा लाई और दो-चार गोबर के चोथ भरकर उन्हें घूरे पर डालने गई। भगतजी के ओसारे पर नज़र डाली तो देखा कि वे अकेले बैठे हुक्का पी रहे हैं। जाते वक्त तो कुछ न कहा गया, पर लौटते वक्त पूछ बैठी—"तुम्हारे भाई-बन्द से भेंट करने भी न आया-गया भगत काका!" और तनिक ज़्यादा घूँघट खींचकर भगतजी के आँगन में पड़े हुए गोबर के चोथ को उठाने झुकी।

"क्या कानजी की बाबत पूछ रही है? मुझे लगता है कि अभी वह गया न होगा। जहाँ तक हो सकेगा, वह ज़रूर मुझसे मिलने आयगा।"

"तब तो ठीक है।" कहकर जीवी घर आई और फिर पानी का लोटा लेकर हाथ और चूड़ी धोने में काफ़ी समय लगाया। जैसे ही वह उठकर पीठ फेरने को हुई कि मुहल्ले के उस छोर पर लगी उसकी नज़र हँस उठी—कानजी के साफ़े की लाल कलगी फड़क रही थी।

भगतजी से बातें करते कानजी और घर में प्रश्न करती बुढ़िया को उत्तर देती जीवी—दोनों की मनोदशा इस समय विचित्र थी। कौन क्या पूछ रहा है और स्वयं क्या उत्तर दे रहा है, इसका दोनों में से एक को भी पता न था। भगतजी कानजी से पूछ रहे थे—"कब वापस आओगे?"

"जब मालिक लायगा तब!" कहकर कानजी ने जीवी की ओर देखा।

साफ़ा बाँधते हुए भगतजी ने फिर पूछा—"चिट्ठी-विट्ठी लिखोगे कि हमें भूल जाओगे?"

कानजी ने भारी साँस लेते हुए कहा—"यदि भुलाया जा सकता होता तो फिर और चाहिए ही क्या था भगतजी!" और फीकी हँसी

हँसते हुए आगे बोला—"मुझसे तो तुम्हें न भुलाया जायगा, पर तुम तो मुझे भूल ही जाओगे!" कहते हुए जीवी की ओर फिर एक नज़र डाली। भगतजी की ओर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोला—"तुम्हारे-जैसे भगत आदमी को अपने मोह में डालकर बेकार क्यों परेशान करूँ?"

यह सब सुनती हुई और चुपचाप असमंजस में पड़ी हुई जीवी कानजी को ऐसे टकटकी लगाये देख रही थी जैसे दूसरी बार ही देख रही हो। और सच पूछा जाय तो उस वेश में तो कानजी को वह दूसरी बार ही देख रही थी। पहली बार तब जब मेले में मिले थे और दूसरी बार अब। उस दिन की तरह आज भी वह उसे छोड़कर जा रहा था।

जीवी ने भगतजी के पीछे चलते कानजी को अपनी ओर देखते और कहते सुना—"जोगीपुरा के रास्ते जाऊँ तो ठीक रहेगा भगतजी! क्यों?"

बैठक में खड़ी-खड़ी जीवी कानजी की पीठ को देखती रही। पहली बार मिलने पर भी वह उसके मन को 'न जाने इसका गाँव किस दिशा में है? न जाने अब कब मिलेंगे? शायद इस जनम में फिर न भी मिल पायँ। फिर परदेसी की प्रीत भी क्या कोई प्रीत है?' ऐसी ही उधेड़-बुन में छोड़कर चल दिया था। इन छह महीनों के उत्पीड़न के बाद आज भी जीवी को ऐसा ही लग रहा था—'न जाने किस देस जा रहा है; शायद फिर वापस ही न आय।' और उस दिन की ही भाँति उसकी आँखों से छल-छल करते आँसू निकल पड़े।

यकायक जीवी को कानजी का अन्तिम वाक्य 'जोगीपुरा के रास्ते' याद आया। उस समय कानजी ने उसे आँख से इशारा किया हो, ऐसा सन्देह भी हुआ। मुँह धोकर वह झट घर में गई और बोली—"जब तक रोटी बनती है तब तक मैं जो दो-चार कपड़े हैं सो धो लाऊँ। लाओ अपनी धोती भी दे दो। लेती जाऊँ!" कहकर जो हाथ पड़े वे कपड़े और मौंगरा[1] लेकर नदी की ओर चल दी।

१. कपड़ा कूटने का लकड़ी का हत्तेवार और आगे कुछ चौड़ा अथवा मोटा डंडा।

धूला इस ठण्डे समय में अपने जिजमानों की हजामत करने निकल गया था। यदि वह घर होता तो भी सास उसे आज्ञा तो दिलाती ही, क्योंकि आजकल वह बहू पर सब प्रकार से प्रसन्न थी।

कानजी को विदा देने के लिए बहुत-से लोग इकट्ठे हुए थे। उनमें भी उसकी भाभी, बड़ा भाई, हीरा और भगतजी तो उसे ठेठ गाँव के बंजर तक पहुँचाने आये थे। रतन तो काका के कन्धे से उतरने से ही इन्कार कर रही थी। और बड़े भाई अब भी यही कह रहे थे—"मान जा न काना! बरसात आने में अब महीना-भर ही तो रह गया है न? क्यों बेकार इतने दिनों के लिए···। और यदि चौमासे में न आया तो मेरा पूरा फजीता होगा। आधे शरीर से मैं अकेला·· "

"अरे, पर आयगा क्यों नहीं भले आदमी! यह एक महीना भले ही घूम आय।" कहकर भगतजी बड़े भाई को शान्त करने का प्रयत्न करने लगे।

"तुम्हारा कहना तो ठीक है भगतजी! पर उस परदेस में इसका क्या पता चलेगा कि इसने खाया है या नहीं; इसे नौकरी मिली है या नहीं? और यह तो शहर की बात है भगतजी!" कहते हुए बड़े भाई का गला भर आया। बड़ी कठिनाई से कह सके—"भले ही घर के लिए तू एक पैसा न लाना, पर अपने शरीर को दुःख न देना भाई! गाय का सगुन हो रहा है, इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं।" कहकर बड़े भाई ने बगल से जाती हुई गाय से हाथ छुआकर माथे से लगा लिया।

भाभी की जीभ भले ही लम्बी रही हो, पर फिर भी कानजी उनके लिए एक कमाऊ पूत-जैसा था। फिर यदि उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी तो क्या आश्चर्य है?

"अच्छा तो अब भेंट लो! फिर धूप तेज़ हो जायगी।" कहकर भगतजी खड़े हो गए।

भाई-भौजाई से भेंटते समय कानजी ऐसे धाड़ मारकर रो पड़ा। जैसे कोई लड़की पहली बार ससुराल जा रही हो।

अभी तक साहस दिखाने वाले भगतजी भी कानजी से भेंटते हुए रो पड़े। और वह भी इतने कि कानजी को रोते-रोते ही कहना पड़ा—"यह क्या है भगतजी! तुम तो साधु-जैसे हो। तुम्हारी आँखों में···आँसू क्या शोभा देते हैं?"

'शरीर को सँभालना, चिट्ठी लिखना, वापस जल्दी आना भाई!' आदि वाक्यों से तीनों जनों ने कानजी को विदाई दी।

भेंटते समय बड़ी कठिनाई से नीचे उतारी हुई रतन कानजी के हाथ से ऐसे जोर से चिपट गई थी कि जब उसकी माँ मारने दौड़ी तभी वह अलग हुई। कानजी ने उसे इतना अधिक प्यार किया कि वह घबरा उठी। कठिनाई से कह पाया—"फिर मिलेंगे रतन!" और बिना उचितानुचित की चिन्ता किये कह डाला—"इसे अपनी नई काकी (जीवी) के पास जाने देना भाभी! वहाँ इसका मन खूब लगेगा।" और हिचकी भरकर रोती रतन को फिर दो-तीन बार प्यार करके पीठ फेर ली। हीरा अभी साथ ही था।

भाभी को शक हुआ—"हीरा भाई भी जा रहा है क्या?"

"नहीं तो, वह तो वहाँ तक पहुँचाने···। वह बेचारा तो गृहस्थ आदमी है, वहाँ कैसे जा सकता है?" भगतजी ने कहा और तीनों जने चल दिए।

कानजी और हीरा दोनों चुपचाप चल रहे थे। हीरा के हाथ में चिलम थी, पर उसे कानजी को देने का होश ही न था। दोनों को बहुत-कुछ कहना था। बहुत-कुछ तो इससे पहले कहा ही जा चुका था, पर फिर भी अभी जैसे बहुत-कुछ शेष था। आख़िर गाँव की नदी भी नज़दीक आने लगी। कानजी एक बरगद के नीचे रुककर "ले तमाखू रख, हो तो" कहता हुआ बैठ गया। कन्धे की पोटली उतारकर गोदी में रख ली। हीरा चिलम भरने में लग गया।

कानजी कहने लगा—"हीरा तू मेरे भाई के समान है, तुझसे क्या कहूँ? और चाहे जो-कुछ हो, पर बड़े भाई की ख़बर-सुध लेते रहना।

चौमासे में आया-आया न आया····।"

"यह तू क्या कह रहा है कानजी ? चौमासे में तू न आवे, यह कहीं हो सकता है ? फिर हीरा चाहे जितनी मदद करे, वह अपना सँभालेगा या तेरा ?" कहकर दम लगाकर आगे कहा—"देख, ऐसा पागलपन न करना ! नहीं तो एक तो तेरे बड़े भाई की वैसे ही हड्डी टूटी है, इससे उनकी हिम्मत और भी टूट जायगी और मर-पचकर गाँव के थोक में, जो घर जमाया है सो सब खंड-बंड हो जायगा।"

"नहीं नहीं, मैं आऊँगा तो सही लेकिन फिर भी···"

"यह लेकिन-फेकिन कुछ नहीं। मुझसे पूछे तो अगर तू घर से इस प्रकार जा रहा है तो दस-पन्द्रह दिन नाते-रिश्तेदारों में घूम-घाम आ ! मैं तो अब भी सच कहता हूँ कि यह नौकरी-फौकरी की खट-पट जाने दे।"

कानजी ने फीकी हँसी हँसी—"अरे भले आदमी ! लेकिन मैं नौकरी करने ही कहाँ जा रहा हूँ। हाँ, यह बात ज़रूर है कि इस प्रकार महीना-दो महीना निकल जायँगे। इस हाय-हाय से जितना दूर रह सकूँ उतना ही अच्छा है।" मुँह से चिलम लगाते हुए कानजी को एक भारी साँस लेनी पड़ी। उसके बाद दोनों फिर चुप हो गए। अन्त में कानजी उठा। भेंटते वक्त दोनों रो पड़े।

कानजी क्यों गाँव छोड़ रहा है, यह हीरा को अच्छी तरह मालूम था, इसीलिए आज उसे जीवी पर गुस्सा आ रहा था। इतने में आँखें पोंछता हुआ कानजी बोला—"हीरा, ज़रा जीवी का खयाल रखना, समझा ! उस बेचारी का अब···तेरे सिवा और कोई नहीं।" और आँखों से तलातल बहती धारा को साफे के छोर से पोंछने लगा।

इन शब्दों ने हीरा के हृदय को फिर रुआँसा कर दिया—"कोई परवाह नहीं, तू स्वयं निश्चिन्त रहना ! अच्छा अब जा, दिन अभी से सिर पर चढ़ आया है।"

दोनों जने अलग हुए। हीरा ने गाँव की ओर क़दम बढ़ाये, कानजी ने नदी की ओर। परन्तु नदी के किनारे से उतरते-उतरते तो

कानजी ने कोई दसेक बार पीछे और इधर-उधर दूर तक नज़र दौड़ाई। एक लाल कपड़े को देखकर कुछ देर रुका भी। लेकिन उसे उलटी दिशा में जाते देखकर वह हताश ही हुआ। स्वगत कहने लगा—'वह मूर्खा अब मिले तो क्या और न मिले तो क्या!' और यों भारी हृदय से नदी का ढाल उतरने लगा।

लेकिन नदी में पैर रखते ही उसकी नज़र जीवी पर पड़ी। आनन्द के मारे उसका कलेजा उछलने-सा लगा। ढोरों को पानी पिलाने आने वाले लड़कों की चिन्ता किये बिना ही वह उसकी ओर बढ़ा। कपड़ा निचोड़ती हुई जीवी झट खड़ी हो गई। बोली—"उस कणजी[1] के नीचे—मैं आती हूँ।"

कानजी वहाँ जाकर कणजी की डाल पकड़कर खड़ा हो गया। उसकी धारणा थी कि जीवी आँसुओं की धारा के साथ रोती हुई आयगी। उसके अनुसार सान्त्वना देने के लिए वह शब्द भी सोच रहा था।

परन्तु जीवी ने कुछ और ही निर्णय कर रखा था—'जाते समय रोकर असगुन कभी नहीं करूँगी।' और जितना वह रो सकती थी उतना इस निर्णय को करते-करते रो चुकी थी।

पास आते-आते हँसमुखी जीवी ने पूछा—"जाना था तो ज़रा जल्दी ही निकलते। सिर पर धूप क्यों कर ली?"

कानजी ने मन में सोचा तो सही कि कह दे—'हृदय की ज्वाला के समक्ष सिर की धूप किसी गिनती में नहीं जीवी!' पर यह न कहते हुए व्यावहारिक बात ही कही—"निकला तो जल्दी ही था, पर सबसे मिलते-मिलाते देर हो गई।"

जीवी अब भी हँस रही थी। उसने भी कणजी की डाल पकड़ी। पत्ते तोड़ते हुए पूछा—"वापस कब आओगे?"

"क्या बताऊँ?"

१. करंज, एक वृक्ष विशेष।

"तो भी, बरसात लगते तो आ जाओगे न ?"

"देखूँगा।" कहकर जीवी की ओर देखता हुआ बोला—"यह कोई मेरे हाथ की बात नहीं।" और निष्ठुर प्रतीत होते प्रियजन के हृदय को चोट पहुँचाने की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर ही आगे कहा—"यदि इतने दिन में ही वापस आने की बात होती तो घर और गाँव ही क्यों छोड़ता ?" और यह कहकर जूतों की नोंक से नदी की रेती में लकीरें खींचने लगा।

"सच।" उसके होठ काँप रहे थे, दृष्टि धुँधली हो रही थी।

जीवी की मुख-मुद्रा पर दृष्टि डालकर कानजी ने फिर बात सँभाली—"नहीं-नहीं, कहीं ऐसा होता है ? आदमी सब-कुछ छोड़ सकता है, पर उससे अपना वतन कैसे छोड़ा जा सकता है।"

"और किसी से चाहे छोड़ा जा सके या न छोड़ा जा सके पर तुमसे तो छोड़ा ही जा सकता है।" और कणजी की टहनी चीरती हुई आँसू-भरी आँखों से कानजी की ओर देखती जीवी आगे बोली—"तुम्हारा कलेजा कोई आदमी का थोड़े ही है।"

कानजी ने फिर एक लम्बी साँस ली और नीची नजर किये हुए ही बोला—"यह तो अकेला मैं जानता हूँ या मेरा दिल जानता है ! आदमी का कलेजा न होता तो आज घर-बार छोड़कर जाने की ज़रूरत न पड़ती।" कहकर नीचे के होठ को दाँतों के बीच में लेकर ऐसे जोर से दबाया जैसे आँखों से निकलने वाले आँसू मुँह के रास्ते निकलने वाले हों।

दोनों जने चुप रहे। इन दो जनों के आस-पास का वातावरण ऐसा शान्त और भयंकर लगता था, मानो उसकी शान्ति दूर-दूर तक नदी में नहाते बालकों की आवाज और पक्षियों की चहचहाट को निगल रही हो।

अन्त में जीवी बोली—"क्यों देर करते हो ?"

कानजी अपनी धुन में कहता जा रहा था—"हाँ, मैं जाऊँ, इसीमें

भला है। इसके बिना तेरा या मेरा किसी का भी हित नहीं हो सकता।"

जीवी मन-ही-मन सोच रही थी या बोल रही थी, इसका पता तो स्वयं उसको भी न था—"न जाने यह भला हो रहा है या बुरा?"

सहसा कानजी चैतन्य हुआ। उसकी आँखों में कुछ और ही प्रकार की चमक थी। जीवी की ओर एकदम बढ़कर उसने पूछा—"मेरी एक बात मानेगी? चल, हम दोनों ही भाग चलें। है हिम्मत?"

क्षण-भर के लिए जीवी खिल उठी। फटी आँखों से कानजी पर जमाई हुई उसकी दृष्टि मानो पूछ रही थी—'क्या सच कहते हो?' उसे कानजी के गले से लिपटने-जैसी उमंग आई, पर दूसरे ही क्षण वह ढीली पड़ गई। भारी पलकों को नीचे गिराती हुई बड़ी कठिनाई से कह पाई—"नहीं-नहीं, तुम अकेले ही जाओ। मुझसे···" धोती के पल्ले[1] में मुँह छिपाकर तुरन्त पीठ फेर गई। पत्थरों से ठोकर खाते उसके पैरों को देखकर ऐसा लगता था, जैसे कोई उसे पीठ पर लादकर लिये जा रहा हो।

जब जीवी की ओर देखते हुए कानजी को होश आया तो उसने पैर बढ़ाये। जीवी की ओर एक नज़र डालकर मुँह फेर लिया। परन्तु उसकी भी वही दशा थी। जैसे कोई अस्तबल में जाने के लिए मचलते ताँगे के घोड़े को दूसरी दिशा में जाने के लिए मजबूर करता है, वैसे ही वह अपने जी को फटकारता हुआ सीधे रास्ते पर ला रहा था।

नदी के किनारे पर चढ़ा और उसके बाद दो खेत के बराबर रास्ता पार भी किया, परन्तु अब भी उसको सारी नदी यों विलाप-सा करती सुनाई दे रही थी—'ऐसा ही करना था तो तू मुझे यहाँ क्यों लाया? क्यों मुझे बेवकूफ़ के पल्ले बाँध दिया?'

कानजी की आँखों से छल-छल करके बहते हुए आँसुओं में से यदि एक-दो जूतों की ठोकरों के शिकार हुए, तो कुछ धूल में मिल गए।

१. आँचल या अंचल।

होश आते ही उसने झट आँखें पोंछ लीं। पीछे एक अन्तिम दृष्टि डाली और दूसरे किनारे पर खेतों में होकर जाती एक लाल आकृति को देखने लगा। निःश्वास की अञ्जलि दी और गरदन को सामने वाले रास्ते की ओर मोड़ता हुआ स्वगत कहने लगा—'मुट्ठी-भर जनम में ही क्या-क्या स्वाँग भरने पड़ते हैं!'

सत्रहवाँ प्रकरण

●

व्यर्थ प्रतीक्षा

थानेदार ने घर पीछे एक-एक रुपया भेंट-पूजा के रूप में लिया था तो उतने का काम भी किया था। लगभग ठीक होने को आये रेशमा को अस्पताल से भगा देने में मुखिया ने भी पूरी-पूरी मदद की थी और उसके बाद तो केस अपने-आप ही दब गया था।

लेकिन इस घटना ने गाँव के लोगों को इन फुरसत के दिनों में बातें करने का मसाला भी काफी दे दिया था। कोई कहता था—'मैंने रेशमा को देखा था। उसकी शक्ल तो ऐसी बदल गई है कि यदि कहीं जंगल में अकेला मिला होता तो देखते ही डर लगता। नाक तो ऐसी दिखाई देती है जैसे गारे का गोंदा[1] ही रख दिया हो। एक आँख की तो पुतली भी निकल गई थी।

परन्तु धूला को तो रेशमा की आँख-नाक की अपेक्षा अपने उस

१. **जब मिट्टी को पानी से सानकर उससे दीवार चिनने का काम लिया जाता है तो वह 'गारा' कहलाता है। उसका थोड़ा-सा हिस्सा हाथ में लेकर कहीं लगाया जाय तो वह 'गोंदा' कहलायगा। वह जहाँ लगेगा चपटा होगा। रेशमा की नाक चोट पड़ने से या कटने से चपटी हो गई थी।**

चाँदी के कड़े की अधिक चिन्ता थी। एक दिन वक्त निकालकर वह रेशमा से मिला भी। लेकिन रेशमा ने उसे हरी झण्डी दिखाई—"अरे, क्या पागल हुआ है ? कड़ा तो गया उस विधि में।"

यह सुनकर धूला की मुश्किल और भी बढ़ गई। विवशता के स्वर में कहा—"ससुर कड़ा गया तो जाने दो रेशमा भाई, पर यदि वह मूठ न मारी हो मत मारना। और यदि मार ही दी हो तो वापस लौटा लेना भाई सा'ब !"

धूला की मूर्खता पर हँसते हुए रेशमा ने संक्षेप में कहा—"अच्छा !"

धला ने चलते-चलते—"वह तो अब चला गया है इसलिए उसे लौटा लेना भाई सा'ब ! इस राँड को तो मैं अब सीधा कर लूँगा !" यह कहकर उससे वचन भी ले लिया।

न जाने कड़े को गँवाने के कारण या यह सोचकर कि यदि रेशमा ने मूठ नहीं लौटाई तो दूसरे कड़े के हाथ से जाने में भी देर न लगेगी—इनमें से कोई भी कारण हो, पर वह मन में बुरी तरह झुँझला उठा था। इस सबके मूल में उसे जीवी का ही दोष दिखाई देता था। उसे ऐसा भी लगने लगा था कि उसके आने के बाद से वह प्रतिष्ठा और पैसे-टके की दृष्टि से भी कमज़ोर होता जाता है। मन में सोचता था—'जब से यह राँड आई है तभी से संकट आए हैं।'

घर पहुँचते-पहुँचते तो उसका क्रोध चरम सीमा पर पहुँच गया था और यदि जीवी के ऊपर उसने जी-भरकर हाथ उठाया था तो आज ही। कसूर इतना ही था कि जीवी ने उसके लिए पानी गर्म नहीं किया था।

जीवी को छुड़ाने आई बुढ़िया ने कहा भी था—"लेकिन भाई ! इसे क्या खबर थी कि तू अभी आ जायगा ? और फिर मारता क्यों है धूलिया ? तू हुक्का पी ! इतने में ही···"

लेकिन धूला ने तो—"मारना तो मैं कभी से चाहता था लेकिन मैंने कहा जाने दो इसीलिए।" की हुंकार के साथ मारना जारी रखा।

एक लाठी बुढ़िया को भी लग गई। वह बिलबिला उठी—"तेरा नाश जाय! ज़रा देख तो सही!"

"तुम्हींने राँड को यह कर-करके बिगाड़ा है।" कहकर फिर जीवी की ओर मुड़ा—"उस दिन कौन-सा ख़सम परदेस जा रहा था जो नदी तक पहुँचाने गई थी?" धूला गरजा।

यह सुनकर तो बुढ़िया भी "तो मरो दोनों जने इकट्ठे होकर!" यों बड़बड़ाती हुई बाहर चली गई। मन में सोचती थी—'ठीक है, ऐसे पीटी जायगी तभी राँड सीधी होगी। मैंने तो कहा कि यह सीधी हो गई है पर रानी जी के तो लच्छन ही ऐसे हैं।'

जीवी की आँखें अब बदल गई थीं। मानो जगदम्बा हो। एक ही झटके में धूला के हाथ से लकड़ी छुड़ाकर कोने में फेंकती हुई बोली—"दम तो कुछ है नहीं और नाशपीटा यहाँ आया है मुझे मारने।"

और धला के इस भयंकर संकट में (भयंकर इसलिए कि एक ओर उसे क्रोधित जीवी का डर लग रहा था तो दूसरी ओर जीवी को दबा न पाने पर अपने पौरुष के लज्जित होने की सम्भावना भी थी) सामने से भगतजी आ पहुँचे। उन्होंने धूला को आड़े हाथों लिया, बुढ़िया को बुरा-भला कहा और गुस्से में जीवी से भी कह दिया—"रोज़ का फजीता है तो क्या कहीं ज़हर भी नहीं मिलता।"

कानजी के चले जाने के बाद, भगतजी की जान को ही तो यह सब झंझट था न? मानें तो चिन्ता तो हीरा को भी थी, परन्तु उसे तो 'जीवी डाकिन है—कानजी पर जादू कर दिया है' ऐसा शक भी था, इसलिए वह तो एक प्रकार से 'इसी के लायक है' ऐसा भी समझता था; फिर उसका घर भी कुछ दूर था इसलिए आधा झगड़ा तो सुनाई ही नहीं देता था।

भगतजी का कहा—'कहीं ज़हर भी नहीं मिलता।' वाक्य जीवी के मस्तिष्क में काफी दिनों तक घुमड़ता रहा। उसके पीहर में ही एक लड़की.....और रोटी में रखकर खा गई थी। दो क्षण में ही

दु:ख के पहाड़ भस्म हो गए थे। जीवी को यह सब याद आया। यह न था कि ऐसा करते उसे देर लगती, पर वह सोचती थी—'क्या महीना न ठहरूँ ? एक बार उसे (कानजी को) देख लूँ—आखिरी बार मिल लूँ; फिर करना तो है ही।'

कानजी के दु.ख के कारण (हो सकता है कि उड़ती-उड़ती बात परदेस पहुँचे और उनका जी जले ! इस दु:ख के कारण) वह गाँव में मार-पीट के बारे में ज्यादा बात तक नहीं करती थी। उसमें भी अब तो उसे मरना था। सिर्फ एक महीने की—कानजी के आने-भर की देर थी।

एक तो गर्मी के दिन वैसे ही बड़े थे। उसमें भी जीवी के दिन तो और भी भयंकर थे। ठीक सवेरे के मुर्ग़ा बोलने के वक्त उठती, पाली-दो-पाली मक्का पीसती, फिर भी राज-दरबार के ठाट से आता सूरज उगने का नाम ही नहीं लेता था। आसानी से स्वयं ऊँचा[1] जा सके इतना गोबर-कूड़ा भरकर डाल आती, पानी की चार-पाँच जेहर लाती—वह भी ऐसी चाल से, जैसे गिन-गिनकर क़दम रख रही हो। तो भी सूरज तो जैसे अब भी मुश्किल से दो बाँस ही चढ़ पाता था। पेट को मजूरी देने के बाद पीसना[2] बनाने बैठती, पर सूरज छिपने के पहले तो वह भी बन जाता। रतन भी कुछ दिन तक आने के बाद बन्द हो गई थी, नहीं तो उसीके साथ बातें करके समय काटती। और इस गर्मी में काटना-बोना तो था ही नहीं, इसलिए अन्त में कण्डे बीनने निकलती। एक-एक कण्डा करके टोकरा पूरा हो जाता, पर सूरज तो अब भी पश्चिम के मैदान में चहल-क़दमी करता दिखाई देता था। इसके बाद बाड़ी के सेम की बेल आदि में पानी देकर जैसे-तैसे करके दो जेहरों की जुगत करती। बछड़े खोजने के बहाने गाँव के भी दो चक्कर लगा आती।

१. सिर पर रखना।

२. पीसा जाने वाला वह अनाज, जिसे कूट-फटककर पीसने योग्य बनाते हैं।

यों राम-राम करके एक दिन पूरा करती। लेकिन कम्बख्त रात भी उसकी बैरन बन जाती। दिन में तो छोटे-मोटे कामों में जी को हिलगाये रखती, पर रात में क्या करे? अक्सर अष्टमी के मेले वाली छैल-छबीली मूर्ति (कानजी)—घुटनों पर से टूटी हुई-सी—विवश बनी-सी दिखाई देती। जीवी कहती—'मैंने ही तेरी यह दशा की है।' जब कि वह बहरी और पागल का-सा प्रलाप करती मूर्ति बड़बड़ाती—'तू मुझे भूल जाय पगली! मुझे क्षमा कर दे और इस···' कहकर एक ठिगने कद और चौड़े मुँह वाले आदमी की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहती—'इसमें मन लगा! जो यह कहे वही तुझे करना है। उसकी जिलाई ही तू जियेगी। तुझे मुझसे कुछ नहीं। अपने मन को मुझसे हटा ले!' ऐसी व्यर्थ की बातें सोचते-सोचते आधी रात निकल जाती। घड़ी-भर के लिए आँखें मीचतो कि खेत के किनारे वाले छप्पर से लँगड़ा मुर्गा पिछले जनम के वैरी की भाँति जीवी के कान में ही बाँग देता। उसके बाद जीवी की आँखें लगतीं तो भी न लगने-जैसी—यों दूसरा दिन फिर चक्की से शुरू होता।

जेठ का महीना आधा बीत चुका था। लोगों के बाड़े में ईंधन के ढेर लग गए थे। लेकिन कानजी के बाड़े को तो जीवी खाली ही देखती थी। गाँव के घूरे भी खेतों में पहुँच गए थे, परन्तु उसका घूरा तो अभी अनखुदा ही था। बड़े भाई की अपेक्षा जीवी की चिन्ता कई गुना अधिक थी—"क्या नहीं आयगा?"

और एक दिन ऐसी ही चिट्ठी आई। सारे गाँव में, पढ़े समझो या बिना पढ़े, एक भगतजी ही थे। कानजी तो परदेस में था और बनिये को ऐसी 'बेकार' की चिट्ठी पढ़ने की फ़ुरसत नहीं थी। चिट्ठी का नाम सुनते ही लगभग चौथाई के क़रीब गाँव भगतजी के यहाँ जमा हो गया। गाँव की आबादी बढ़ने पर यदि कोई परदेस गया था तो वह कानजी ही था। हाँ, एक ठाकुर भी गया था, पर उसकी तो शायद ही कभी चिट्ठी आती हो। और यदि आती भी तो उसका बाप उसे

खीसे में डालकर न जाने कब गाँव में आता और पढ़वाकर चला जाता। यों बड़े भाई की तरह किसी के न पूछने पर भी "काना की चिट्ठी आई है भाई! भगतजी से पढ़वाने जाता हूँ। न जाने इसमें क्या लिखा है?" बोलता—बड़बड़ाता थोड़े ही जाता था।

भले ही सारा गाँव सुन ले, लेकिन यदि जीवी ने सुन लिया तो, तो बस हो चुका। अपने ओसारे की औलाती के आगे खड़ी-खड़ी भगतजी के घर की ओर वह इस प्रकार देखती थी जैसे चिट्ठी का दर्शन भी दुर्लभ हो। उसके कान भी जैसे ठीक भगतजी के ओसारे की औलाती तक पहुँच गए थे और यदि आदमियों की आड़ न होती तो निस्तब्धता तो इतनी अधिक थी कि वह अवश्य सुन लेती। भगतजी के ध्यान में यह नहीं होगा अथवा ऐसा न था कि उनसे जल्दी पढ़ने के लिए कहा जाता।

बड़े भाई को बड़बड़ाते सुनकर वह इतना तो समझ गई थी (बाकी तो उसके काम का भी क्या था)—कि कानजी नहीं आने का।

गाँव के लोग भी या तो कानजी की निन्दा करते हुए या 'अच्छी नौकरी मिल गई होगी तभी न? यहाँ खेती में कौन से लाल रखे थे।' यों अटकलें लगाते हुए बिखरने लगे।

बड़े भाई की आवाज़ सुनकर जीवी भी होश में आई। घबराये हुए बड़े भाई कह रहे थे—"भगतजी! आज ही चिट्ठी लिख दो कि न तो मुझे मजूर रखना है और न तेरा रुपया चाहिए। इसलिए जैसे बैठा हो वसे ही सीधा उठकर घर चला आ!"

जीवी ने सोचा—'क्या मैं भी लिख दूँ कि जीवी मरासू रखी है इसलिए मुँह देखना हो तो देख जाय।' और उसका कलेजा ऐसे धड़क उठा जैसे वह कानजी के पैरों की आहट सुन रही हो। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे होश आया कि न तो वह स्वयं लिखा सकती है और न वह आ ही सकता है। उसकी आँखों से बेर-जैसे आँसू निकल पड़े। वह तुरन्त घर में चली गई। उसका रोता हुआ हृदय मानो कह रहा

था—'इतना ज्यादा निष्ठुर !'

परन्तु बड़े भाई की भाँति जीवी को अब भी विश्वास था कि कानजी आयगा। दूसरी ओर समय भी अपना काम किये जा रहा था।

बादल जवानी के नशे में इठलाती पनिहारिन की भाँति पश्चिम से आते और इसी चाल से पूर्व क्षितिज के ढाल पर उतर जाते। कभी दो-चार के टोल में इकट्ठे हो जाते और कभी आकाश को ढक लेने की बातें करते-करते दो के चार होकर अलग हो जाते। कभी साथ-साथ किसी अन्य प्रदेश में चले जाते। कभी-कभी तो रात और दिन ऐसा ही होता रहता, तो कभी नभमण्डल दर्पण-जैसा स्वच्छ दिखाई देता। यदि कहीं कोई छुट-पुट बदली आ जाती तो आकश की ओर ताकने वाले का सौभाग्य ही समझा जाता

परन्तु जीवी को आकाश से कोई सरोकार न था। उसे तो उसी रास्ते से काम था। उसका विवर्ण शरीर और गड्ढे में धँसी हुई आँखें देखकर ऐसा लगता था जैसे मानो उसके यौवन की दीप्ति और चकाचौंध करने वाली आँखों की चमक सब उस रास्ते पर ही खर्च हो गए हैं।

अष्टमी की संध्या को ईशानकोण से एक रुपहला बादल निकला। बढ़ता-बढ़ता आकाश में पहुँचा। बगल से फूलने लगा और उसके बाद तो बादल में से बादल और उसमें से एक बदली फूटी। दोनों दिशाएँ घेर लीं। लोगों का उल्लास भी बढ़ गया। 'आज उसके घर से चढ़ाई हुई है, जरूर बरसेगा।' ऐसे उद्‌गार भी निकलने लगे। और यही हुआ। जैसे कोई मायावी राक्षस सिर हिला-हिलाकर भय उपजा रहा हो ऐसी गहरी-गहरी गर्जना के साथ आकाश घिरने लगा। रुपहला रंग मटमैला हुआ और देखते-देखते ही सारा-का-सारा आकाश काले रंग में बदल गया। नीचे उतरा हुआ अँधेरा धरती से लिपट गया। गर्जना करते मेघ ने हुंकार दी। बिजली ने तायडव शुरू किया और इस चढ़ाई से परेशान धरती की उमस आदमियों को भी पसीने से तर-ब-तर करने लगी।

लोग नींद की गोद में जा ही रहे थे कि आकाश से हल्की-हल्की बूँदें गिरने लगीं। दूसरे ही क्षण दिशाओं को दीप्त करती एक विद्युत्-रेखा सीधी धरती पर उतर आई और ऐसे कड़ाके के साथ ऊपर चढ़ गई जैसे आकाश फट गया हो। बादल जैसे टूट पड़े हों और वह भी यहाँ तक कि ओसारे में बैठे-बैठे आनन्दानुभव करने वाले किसी-किसी किसान ने तो अपने पड़ोसी से पुकारकर कहा भी—"फलाने भाई! पहली बार में ही धान बुवा देगा।"

और यह रात सारे गाँव के लिए आनन्दमयी थी। लेकिन बड़े भाई के लिए तो यह शोक और परेशानी से भरी थी। जब से कानजी हल जोतने लगा था तब से न तो उन्होंने कभी हल जोता था और न कभी छोड़ा था। इसीसे तो वे आज घबरा रहे थे। और इसीलिए कानजी को लक्ष्य करके कह रहे थे—"किसका भाई और किसका क्या? शहर की सड़कों पर घूमना छोड़कर यहाँ कीचड़ खूँदने कौन आता है?"

पिछली रात की वर्षा बन्द हो गई थी। आकाश में मचे घमासान से भागे हुए तारे शान्ति छाई हुई देखकर 'जरा देखें तो सही कि धरती पर क्या-क्या बीती है?' के विचार से डरते-डरते-से झाँकने लगे थे। सवेरा होते-होते तो सिर के ऊपर का यह सारा ही नाटक खत्म हो गया था।

धरती के रंग भी आज बदल गए थे। पक्षियों ने भी जल्दी उठकर प्रभाती गाना आरम्भ कर दिया था। शान्ति-भंग होने के डर से पवन भी थम गया था।

फिर आज की प्रकृति को देखकर तो ऐसा लगता था जैसे झटपट स्नान-निवृत्त होकर खुले केशों से पानी टपकाती कोई ललना, भक्ति-भाव से नीचे झुकने की मुद्रा में, मूक प्रार्थना करती खड़ी हो। पूर्व दिशा के झरोखे पर आकर खड़ा हुआ सूर्य भी छाती पर भरे हुए पानी में ऊभ-चूभ कर रहा था जब कि धरती के हृदय की तो बात क्या पूछना! सारा वातावरण ही किसी अद्भुत सुगन्ध से भर दिया था।

बड़े सवेरे गाँव के लोग मुखिया के यहाँ इकट्ठे हुए। कुँसुबा

लेकर नए वर्ष की उद्घाटन-क्रिया करने के बाद सब अपने-अपने घर आये और हल तैयार किये। कुमारियों के शकुन ले, गरदन में बँधे घलारे[1] और घंटियों की गहरी तथा मधुर झंकार करते बैलों को आगे कर, खेतों की ओर चले।

पीछे रह गए बड़े भाई ने भी नरसिंह महता की लदिया[2] की भाँति —हालाँकि बैलों के तगड़े होने पर भी उनकी गरदनें घलारों से खाली थीं—हल तैयार किया। रतन के नाजुक हाथों से तिलक कराके कलावा बँधवाया और उसीका सगुन लेकर पत्थरों से टकराते हल की 'घर्र्र खड़ींग' की आवाज़ के साथ खेतों की ओर चलने लगे। असगुन होने के डर से रोके हुए आँसू खेत में हल जोतते समय फल-फल करके निकल पड़े।

पहला मुहूर्त्त पनघट वाले खेत में ही किया था इसलिए यह स्वाभाविक था कि पानी भरने आने वाली जीवी की नज़र उनके ऊपर पड़े। क्षण-भर उसने सोचा भी—'कहाँ तो उनके (कानजी के) हाथों धरती धसकाते चलते बैलों की चाल और कहाँ यह बड़े भाई के हाथों गिन-गिनकर डग धरते बैलों का चलना। दो दिन में भी इतना खेत पूरा कर दें तो ग़नीमत है।' बड़ी देर तक देखते रहने के बाद जीवी को होश आया। एक भारी साँस लेकर अपने जलते हृदय से कह रही थी—'मर्द हुई होती तो भी एकाध दिन हल लेकर मदद करने जाती, पर तू तो औरत है? यों जी जलाने से क्या होगा?' जेहर भरकर चलते हुए फिर बड़े भाई की ओर देखा और दबी हुई निःश्वास छोड़ती हुई मन में कहने लगी—'और किसी की तो कोई बात नहीं मूरख, पर अपने बड़े भाई पर तो तरस खाया होता।'

इतना होने पर भी जीवी ने आशा नहीं छोड़ी थी—'अगर यह बरसात वहाँ भी हुई होगी तो वह कल जरूर आ जायगा।'

१. वे बड़े घुंघरू, जो बैलों के गले में बाँधे जाते हैं।

२. छोटी बैलगाड़ी।

और कल के आने में क्या कुछ देर थी ? परन्तु मनुष्य अपने आशा-तन्तु को अगली कल से जोड़ना भी जानता है। इसी प्रकार तो वह जीता है। इसके अलावा जीवन बिताने का दूसरा रास्ता भी क्या है ?

लेकिन जब जुताई का वास्तविक समय निकल गया और धानों की बुवाई भी शुरू हो गई तब तो जीवी को कानजी के आने की आशा ही छोड़नी पड़ी।

कभी-कभी तो उसे ऐसा लगने लगता—'अभी हृदय की गति रुक जायगी, अभी वह बाहर निकल पड़ेगा।' लेकिन जब इसमें से कुछ भी न होता तो वह अपने ऊपर खीझती—'मरी ! यदि तू ही मर जाती तो सारा कलेस मिट जाता।'

और यद्यपि वह मरी नहीं थी, परन्तु उसके बाद तो वह जैसे मौत के ही रास्ते पर चल रही थी। न किसी से बोलना, न चालना। कभी यदि हँसती भी थी तो मजबूर होकर ही।

यह देखकर धूला तो यही समझता था कि उस पर मूठ का असर है। इसलिए वह भी अन्यमनस्क होकर 'क्या करना चाहिए ?' के विचार में ही रहता था।

जब कि इन दोनों के आजकल के बर्ताव को देखकर बुढ़िया तीसरी ही चिन्ता में पड़ी थी। उसके मन में यह बात जम गई थी कि अब इन दोनों के मन आपस में बिलकुल फट गए हैं। पास-पड़ोस में बातें भी करती—"मरे भले ही लड़ें-झगड़ें, पर तो भी आपस में बोलें-चालें तो सही। लेकिन वे दोनों तो मुँह फुलाये ही घूमते रहते हैं।"

कोई बुढ़िया अपने अनुभव की बात कहती—"पर तू भी तो सारे दिन घर की कुतिया की तरह घर में ही घुसी रहती है। दो घड़ी बाहर रहे तो और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसे खाना तो माँगना पड़े। और तब क्या वह बिना दिये रह सकती है ?"

बुढ़िया ने यह भी कर देखा। परन्तु बात वह की वही रही। न धूला ने खाना माँगा, न जीवी ने बिना कहे परसा।

बुढ़िया ने पूछा तो पता लगा कि उसने अपने हाथ से लेकर ही खा लिया है। बुढ़िया ने जीवी पर अपना गुस्सा उतारा—"यह तो अच्छा है कि मैं जीती हूँ, पर कल अगर मैं मर गई तो तुम्हारा घर-बार कैसे चलेगा !"

फूले हुए मुँह से ही जीवी ने जवाब दिया—"चलेगा, चलना होगा तो।"

"ऐसा क्यों कहती है री ! तू घर बसाने आई है या इस प्रकार उजाड़ने !" कहती हुई बुढ़िया कमर पर हाथ रखकर जीवी को तिरछी नजरों से देखने लगी।

परन्तु जीवी में जैसे लड़ने की सामर्थ्य ही न थी। ऊबकर बोली—"दया करके मेरा पीछा छोड़ो, महारानी !"

पर ऐसा करने से तो सास का गुस्सा और भी बढ़ गया—"और नहीं तो क्या ? बेचारी को यहाँ कोदों की रोटी खाने को मिलती हैं न ?"

जीवी उठकर बाहर जाती हुई बड़बड़ाई—"लो बकती रहो अकेली।"

"मैं देखती हूँ कि तू कैसे नहीं करती। जरा तिलों की बुवाई हो जाने दे ! फिर देखना कि मैं दो महीने के लिए अपने पीहर जाती हूँ या नहीं ? मैं देखूँ तो सही कि फिर कौन-सी सास पकाकर देती है ?" यों बड़बड़ाती हुई रसोई में चली गई। लेकिन वहाँ अव्यवस्था की ऐसी क्या कमी थी, जो जीवी से लड़ने के लिए कोई और बहाना ढूँढने की ज़रूरत पड़ती।

परन्तु उसकी वह बड़बड़ाहट जीवी के कान से टकराकर ही वापस लौट आती थी। कानों के द्वार बन्द थे—शरीर में जैसे प्राण ही न थे। आज बुढ़िया को पूरा यक़ीन हो गया था कि जब तक वह बहू को सीधा न कर लेगी तब तक उसका मन काम में या घर में नहीं लगेगा।

इतने में ही बुढ़िया को घर से बाहर जाने का अवसर मिला। जीवी के बूढ़े बाप के मरने के कारण बुढ़िया ने शोक प्रकट करने के लिए

जाने की तैयारी की।

बाप के लिए रोने को जीवी का जाना जरूरी था, परन्तु सास को एक और डर था—'एक तो सौतेली माँ की मरजी नहीं थी और दूसरे उसका यहाँ मन नहीं लगता। औरत की जात को फुसलाते क्या देर लगती है? कोई दूसरे ठिकाने बिठा दे तो धरेजे वाली जाति में बुरा भी कौन मानेगा? और हमीं कौन से पैसा खरच करके या बदले में छोकरी देकर लाये हैं, जो जात में फरियाद करने जायँगे।' इसलिए सास ने सब-कुछ सोचकर उसे रोक दिया और कहा—"नहीं भाई नहीं, तेरे जाने की कोई ज़रूरत नहीं। वह तो मैं जाऊँगी। सो सब हो गया।" यों कहकर जीवी को शान्त करने के लिए आगे कहा—"एक बार मुझे वहाँ हो आने दे। तेरी माँ को भी कुछ समझा-बुझा आऊँगी। फिर तू जाना और महीने-पन्द्रह दिन रह आना!"

जीवी को विवश होकर (क्योंकि न मानती तो भी घर से बाहर पैर कौन रखने देता इसलिए) मानना ही पड़ा।

बुढ़िया के लिए तो यह एक पन्थ दो काज वाली बात थी। भाई का घर भी उधर ही था। 'कुछ दिन वहाँ भी बिता आयगी। और इस प्रकार बहू-बेटे अकेले रहेंगे तो हार-झख मारकर एक-दूसरे से बोलेंगे ही।' यह सोचते ही बुढ़िया का पोपला मुँह कुछ खिल उठा। मन में कहा भी—'फिर तो बुढ़िया को किसी भाव नहीं पूछेगा। अब तो धूला माँ के बिना खाता ही नहीं, लेकिन बाद में तो उसे माँ के हाथ का भावेगा ही नहीं।'

साथ जाने के लिए ज़िद करते छोटे लड़के को भी बुढ़िया ने 'इसका चलना भी ठीक है। इसका यहाँ काम भी क्या है?' यह सोचकर साथ ले जाने की हामी भर ली। बहू-बेटों को अलग-अलग सीख—दोनों में मेल कराने वाली—देकर एक दिन सवेरे बुढ़िया चल दी।

रास्ते में पड़ने वाले खेतों पर जाने के लिए सास के साथ आने

वाली जीवी को अपनी सखियों, सौतेली होने पर भी जो माँ थी ऐसी अपनी सौतेली माँ, भाई-बहनों आदि सबको बहुत-कुछ कहलवाना था, पर वह कुछ भी न कह सकी। खेत के पास आने पर ठिठकती हुई केवल इतना ही बोल सकी—"मेरी माँ, और मेरे भाई-बहन सबसे कहना कि···जीवी तुम्हें बहुत-बहुत···" और रोने से बचने का अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी 'याद करती है' तो वह कह ही न सकी।

सास के जाने के बाद तो जीवी को घर बीहड़ वन से अधिक भयंकर लगने लगा। यह अवश्य एक अच्छी बात थी कि रतन फिर आने-जाने लगी थी। लेकिन एक दिन धूला ने उसे भी बन्द कर दिया। रतन को हाथ पकड़कर घर से बाहर धकेलते हुए भट्टा-सी आँखें निकालकर वह बोला था—"खबरदार, जो फिर इस घर में आई तो!"

जीवी से बिना बोले न रहा गया—"इस बच्ची से क्या बदला लेते हो?"

धूला को यह वाक्य भाले की नोंक-जैसा लगा, परन्तु न जाने क्यों अब उसे जीवी को मारने का साहस ही नहीं होता था। आये हुए गुस्से को दबाकर उसने इतना ही कहा—"बदला तो अभी लिया ही कहाँ है? अब लिया जायगा।" और जीवी के दिन-दिन क्षीण होते शरीर पर एक कड़ी नज़र डालते हुए बोला—"उतावली क्यों हुई है?"

उसे यकीन था कि जीवी को मूठ लगी है। जीवी का शरीर भी बिलकुल बदल गया था। धूला को तो उसकी चाल-ढाल भी भूत की छाया-जैसी लगती थी। मन में सोचता था—'घर में से राँड का मन ही उचट गया है।' और बहुधा मूठ के भूतों को लक्ष्य करके कहता भी था—"सालो, खानी हो तो खा जाओ, जिससे नज़र के सामने तो न रहे!"

अठारहवाँ प्रकरण

●

जीते जी ज़हर पीना

श्रावण मास की सजल बदलियाँ आतीं और सिर के ऊपर से बरसती हुई चली जातीं। घड़ी में सूरज दिखता और फिर बदलियों में छिप जाता। पानी से तर-ब-तर गाँव की गलियों में कीचड़ के ढेर जम गए थे। दूसरी ओर हरे-भरे खेत पवन के झोंकों के साथ इधर से उधर लहरा रहे थे। बनते हुए दाने पर झपट्टा मारने के इरादे से दूर-दूर से आये हुए तोते और कौए भी खेतों के ऊपर घात-लगाते उड़ने लगे थे।

यही महीना था। जीवी के जीवन का वह स्मरणीय दिन भी आज उसके सामने आ खड़ा हुआ था। लेकिन आज के और गत वर्ष के उस दिन में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। गत वर्ष आज के दिन उसकी आशा का उदय हुआ था। लेकिन आज सारा-का-सारा दिन उसने पागल आदमी की तरह घड़ी-भर में रहट की मीठी-मीठी हवा खाते तो घड़ी-भर आँसू टपकाते; घड़ी-भर में कानजी से बातें करते तो घड़ी-भर में मूक बनते—ही व्यतीत किया। काफ़ी रात बीतने पर मेले से वापस आती हुई युवतियों के गीत सुनकर तो वह बाहर भी निकल आई। परन्तु कानजी आया होता तभी दिखाई देता न? उसकी सारी रात रोने में ही बीत गई।

सवेरे वह गोबर-कूड़ा डालने जा रही थी कि कोई शहर का आदमी सामने से आता हुआ दिखाई दिया। गुलाबी साफ़ा बाँधे था। रंगीन कमीज़ के ऊपर शिकारी कोट डाटे था और उजाले में भी बगुले की पाँख के समान दिखाई देने वाली धोती ऐसी थी जैसे मानो फूँक मारते ही उड़ जायगी। चौमासे के दिनों में भी उसने बूट पहन रखे थे। हाथ की छतरी भी कल वाली थी। और मुँह में लगी बीड़ी तो पैसे की एक वाली (सिगरेट) ही थी। यदि शरीर की गटन में फ़र्क न होता तो जीवी का हृदय आनन्द के मारे छलाँगें मारने लग गया होता, लेकिन इस समय तो उससे एक निःश्वास ही निकल पड़ा।

बूटों की 'चर्र-मर्र' आवाज करते हुए चले जाने वाले युवक ने जीवी की ओर एक नशीली नज़र डाली और सपाटे से आगे बढ़ गया। जो कोई भी उसे देखता वही उससे हाल-चाल पूछने लगता। जीवी कान लगाकर सुन रही थी—'नाना! आ गया क्या भाई! राजी-खुशी तो है न? कानजी और तुम एक ही जगह हो या अलग?' वह युवक हँसकर जवाब देता हुआ और बीच-बीच में सिगरेट का कश खींचता हुआ दूसरे मुहल्ले की ओर मुड़ गया।

परन्तु जीवी का मन अधीर हो उठा—"उससे कब मिलूँ? कहाँ मिलूँ? मेरे लिए कोई-न-कोई ख़बर जरूर लाया होगा!" न भेजी होगी तो भी कोई बात नहीं, मुझे उनके हाल-चाल तो मालूम हो जायँगे।" विचार-तरंगों में खोई जीवी किस समय घर में घुसती है और कितनी देर में गोबर का टोकरा भरकर बाहर निकलती है, इसे देखने वाला यदि कोई होता तो वह स्वयं देखे बिना कभी यह विश्वास न करता कि जीवी अपने हाथों से ही भरकर निकलती है।

परन्तु ऐसी निगरानी वह कब तक रख सकती थी? चूल्हे पर दाल चढ़ी थी। पानी की जेहर खाली बज रही थी। उलझन में पड़ी जीवी ने जब विचार किया तो वह स्वयं को ही मूर्ख लगी—'परदेस से आया है तो कोई यों ही थोड़े ही चला जायगा? महीने-पन्द्रह दिन तो रहेगा ही।'

फिर भी पानी भरते समय वह इधर-उधर नज़र दौड़ाती रहती थी।

दूसरे दिन तो नाना खुद भगतजी के यहाँ आकर बैठा था। वह कानजी को मिली बीस रुपये की नौकरी की, अपनी पच्चीस की और उसके बाद शहरी जीवन की बातें बड़े जोर-शोर से कर रहा था। बेचारी जीवी! कलेजे के टुकड़े के—आँखों की पुतली के समाचार भी नहीं पूछ सकती थी। एक बार आँगन में बछड़ा बाँध रही थी कि नाना को कहते सुना—'यही वह धूलिया की नई औरत है क्या? जीवी या ऐसा ही कुछ नाम है न?' और अपनी नज़र मिलते ही उससे पूछा भी—"क्यों जीवी भाभी, क्या धूला घर नहीं है?"

"नहीं", कहकर जीवी मुस्कराई। भगतजी को बैठा देखते ही वह सँभली। धोती का पल्ला खींचकर घूँघट काढ़ती हुई घर में घुस गई।

कोई चौथे दिन जाकर नाना से मिलने का अवसर मिला। उसे भगतजी के यहाँ से उठते देखते ही जीवी भी उसके पीछे-पीछे खेतों की ओर चलने लगी। आधे रास्ते पहुँचते ही उसे पकड़ लिया। परन्तु वास्तव मे नाना ही धीमा पड़ गया था। जीवी ने ही बात शुरू की—"शहर से आए हो तो वहाँ के कुछ समाचार तो बताओ, नाना भाई!"

"तुम्हें न बताऊँगा तो किसे बताऊँगा जीवी भाभी! इसीलिए तो मैं तुमसे मिलने का मौका ढूंढ़ रहा था।" कहकर जीवी की ओर देखकर ऐसे हँसा जैसे बहुत पुरानी जान-पहचान हो।

आश्चर्य करती हुई जीवी बोल उठी—"मुझसे मिलने को? हम लोग जीवन में मिल तो आज पहली ही बार रहे हैं न?"

"यह ठीक है, परन्तु तुम्हारा परिचय यहाँ आने से पहले ही हो चुका है।" कहकर जैसे 'किस प्रकार?' का प्रश्न पूछती जीवी को ही सुना रहा हो ऐसे नरम आवाज़ में बोला—"जीवी भाभी, कानजी तुम्हें बहुत याद करता है। जिस दिन यहाँ के लिए रवाना हुआ उसकी पहली रात को ही उसने मुझसे तुम्हारी बात कही थी।"

"क्या?" पूछती हुई जीवी का हृदय जैसे रुक गया हो। फटी हुई

आँखों और हृदय में जिज्ञासा उभर आई थी।

"शुरू से आखिर तक सभी, जीवी भाभी! कानजी-जैसे की आँखें सजल हो गई थीं, यह कहूँ तो भी कोई न मानेगा, पर उस रात वह पेट भर कर रोया था।" कहकर अन्दर की जेब में हाथ डाला और एक पुड़िया निकालकर जीवी की ओर बढ़ाते हुए कहा—"उसने तुम्हारे लिए ये दो चूड़िया भेजी हैं। प्रेम की निशानी के रूप में ही।"

'ले,कि न ले' सोचती हुई जीवी ने हाथ बढ़ाया। पूछा–"कुछ और कहते थे क्या? वे हैं तो मज़े में? कब तक आयँगे, कुछ बताया है?" अलग होने वाले रास्ते पर आते ही जीवी ने इकट्टे सवाल पूछ डाले।

परन्तु नाना ने अन्तिम सवाल का ही जवाब दिया—"आने का कुछ पक्का तो नहीं है, पर आयगा दिवाली तक। फिर छुट्टी मिलने पर निर्भर है।"

जीवी को अभी बहुत-से सवाल पूछने थे, परन्तु इतने में ही रास्ते से धूला को जाते देखा। पग उठाते हुए पूछा—"अभी तो रहोगे न?" कहकर धीरे से बोली—"जाने से पहले मुझसे मिलना!" और चल दी।

धूला की आँखें फट गई थीं, पर इतने में ही नाना बोल उठा—"ओहो! क्यों धूला भाई, अब तुम हमसे काहे को बोलोगे? अभी-अभी जीवी भाभी से भी मैं यही पूछ रहा था कि हमारे धूला भाई को कहीं बासा-कूसा तो नहीं खिलातीं?"

धूला ने हँसने की कोशिश करते हुए कहा—"होता है भाई! घर में बासी भी खाना पड़ता है।" और फिर कब आया, क्या हाल-चाल हैं आदि ऊपरी सवाल पूछकर घर की ओर चल दिया। नाना का घर भी पास—रास्ते पर ही—था। घर की ओर मुड़ने से पहले जिधर जीवी गई थी उधर देखा, पर वह तो रास्ते में ही मुड़ गई थी।

घर आकर देखा तो पणहरी पर की जेहर खाली थी। चूल्हे में आग का पता नहीं था। हुक्का लेकर पड़ोस में आग लेने गया। चिलम में अंगारा रखते हुए कह रहा था—"इस घर के ढंग तो देखो। जेहर में

तो पानी की बूँद नहीं है और इस समय निकली है चारा लेने। आखिर वह क्या सोचकर गई है ?'' यों बड़बड़ाता-बड़बड़ाता ओसारे में आकर बैठ गया। उसका विश्वास था कि वह चारे के बहाने कानजी के हाल-चाल पूछने के लिए नाना के पीछे-पीछे गई है। उसके हाथ सुरसुरा रहे थे और आँखें तो जैसे बाहर ही निकली पड़ती थीं।

परन्तु आज जीवी भी खेत से पीठ और मन सभी को कड़ा करके आई थी। घर में बोझ डालते ही—''क्या तुम चारा लेने गई थीं ?'' यह सवाल हुआ और कूच[1] में लात पड़ी। जीवी वहीं बैठ गई। धूला ने लकड़ी सँभाली और इतना ज्यादा मारा कि कभी चूँ तक न करने वाली जीवी आज चीख रही थी। भगतजी घर न थे और दूसरे पड़ोसियों को क्या गरज पड़ी थी, जो भागे-भागे आते ? यदि आज हीरा घर होता तो वह भी आये बिना न रहता। और आया होता तो धूला को अलग हटाने के बहाने दो-चार जड़ भी देता। आखिर मनारे का बूढ़ा आ गया। हीरा की बहन नाथी और फिर कंकु भी आ पहुँची। बड़ी मुश्किल से धूला के हाथ से लकड़ी छीनी और उसे धकेलकर ओसारे में लाये।

यदि सार में बिछी खाट में पड़ी जीवी से उठा गया होता तो वह घड़ी-भर के लिए जरूर उठती और खाने को भी करती, परन्तु आज उसकी हड्डी-हड्डी दुख रही थी। फिर भी शाम के वक्त तो वह उठी ही। पानी न होने पर भी वह पानी का घड़ा लेकर तो न गई, पर खेत में घास लेने को अवश्य निकली।

सच पूछो तो वह घास लेने नहीं आई थी। वह तो कुछ और ही लेने आई थी। इसीलिए तो वह मेंड़-मेंड़ पर घूम रही थी। साथ में घास की पोटली तो बहाने के लिए बाँध रखी थी। नीची नजर किये चली जाती जीवी के कान में, घर में बात करते नाना की आवाज आई। कुछ याद आते ही कपड़ों पर हाथ फेरकर देखा। पुड़िया बाहर निकाली

१. घुटनों की परिया के पीछे का वह भाग, जिसके मुड़ने से जांघें और पिंडलियां मिलती हैं।

और नाना के घर के आगे खड़े होकर आवाज़ दी—"नाना भाई घर हैं क्या ?"

"कौन है ?" कहते हुए नाना ने खिड़की से झाँका। जीवी को देखते ही रास्ते पर आया। मुँह नीचा किये ही बोला—"मेरे कारण तुमको, मार·····"

"तुम्हारे कारण कुछ नहीं भाई !" कहती हुई जीवी ने बड़ी मुश्किल से आँसू रोके। उस पुड़िया को उसे देते हुए बोली—"यह अपने साथी को दे देना !" और बड़ी कठिनाई से मुँह पर हँसी लाते हुए बोली—"और कहना कि जीवी ने यह अपनी ओर से भेजी है।" खखारकर मुँह के ऊपर हास्य लाती हुई फिर बोली—"कहना, जब बहू लाओ तब मेरी ओर से यह पहना देना !"

"लेकिन ये तो वे हैं, जिन्हें मैं लाया था।"

"तुम कहना कि मैंने अपनी ओर से ऐसा कहकर वापस कर दी हैं।" कहकर आँखों को जल्दी-जल्दी खोलती और मूँदती जीवी हँस रही थी या रो रही थी, यह नाना भी न जान सका। जीवी ने फिर गला साफ किया। बोली—"और कहना कि जीवी तुम्हें याद करते-करते ही···" लेकिन खुद क्या कह रही है, इसका ध्यान आते ही उसने 'गई है' शब्द को बाहर नहीं आने दिया और वाक्य बदलकर आगे कहा—"कदाचित् हम मिलें-न-मिलें; इसलिए इतना तो अवश्य ही कह देना !·····और·····"बगल से निकलने वाले दो आदमियों को देखकर या शायद किसी और वजह से, उसने तुरन्त पीठ फेर ली। आँखों में छलक आने वाले आँसुओं के कारण एक बार ठोकर भी खाई। नाना तो उसकी पीठ को ही देख रहा था।

पीछे आने वाली औरतें तो जीवी को नाना से बातें करते देखकर दाँतों-तले अँगुली दबा गईं 'हाय-हाय बहना ! कैसी औरत है ? घड़ी-भर पहले हड्डियाँ तोड़ी गई हैं, लेकिन फिर भी नाना से बातों में लगी है। नाशपीटा धूलिया भी गया-बीता है, नहीं तो यदि ठीक से मरम्मत

कर दे तो जनम-भर की कुटेव भूल जाय। बेचारे को लोग यों ही दोष देते हैं।'

सवेरे मार-पीट करने के बाद धूला कहाँ गया और उसने क्या खाया, इसका कोई पता न था। लेकिन जब जीवी रोटी बना रही थी तब वह न जाने कहाँ से गुस्से में भरा हुआ आ धमका। किसी ने उससे कहा होगा तभी न ? सीधा रसोई में गया। जीवी ने एक रोटी उतारकर चूल्हे के आये[1] में रखी थी और कठौती में दूसरी दो रोटियों का आटा लेकर मसलने की तैयारी कर रही थी कि धूला ने उसकी कलाई पकड़कर खींचा। कठौती उलट गई है, इसका भी किसी को ध्यान न था। "निकल राँड ! तू मेरे घर में एक घड़ी भी रहने लायक नहीं। मैं तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता !" कहकर ओसारे में ले जाकर डाल दिया। जैसे गड़िया बैल को क्रोध में लातें लगा रहा हो ऐसे जीवी की कमर में लातें मारते हुए कहा—"चली जा, नहीं तो आज रात को तेरा गला काट डालूँगा, समझी !" जैसे बिजली चमकती है ऐसे जीवी की आँखों में क्रोध झलकने लगा—"इससे पहले तो मैं ही तुझे मजा चखा दूँगी, तू आ तो सही !" धूला की गर्जना और हाथ दोनों अभी चालू थे—"आज दरते-मरते तेरा दम ही निकाल देना है। तू भी क्या समझेगी कि कोई मिला था।"

पीछे से मुहल्ले के आदमी दौड़े आये। भगतजी धूला को मारने लगे—"इसके हाथ की गरम-गरम रोटियाँ खाना ! तू अकेला ही औरत वाला है क्या ? इतनी ज्यादा भारी है ! अगर कुछ हो गया तो कल तेरी दुर्गति करा दूँगा। अगर तुझे जेल न भिजवा दूँ तो मेरा नाम भगत नहीं !"

"ले चल, उठ छोरी !" कहकर जीवी को उठाकर घर ले गए।

यदि और कोई होता तो धूला ने मुँहतोड़ जवाब दिया होता—'अरे चल-चल ! मेरे घर के मामले में दखल देने वाला तू है कौन ?'

१. चूल्हे के ऊपर का खुला भाग।

परन्तु भगतजी से वह डरता था। उसकी धारणा थी कि यदि भगतजी चाहें तो सामने वाले आदमी को खड़ा-खड़ा सुखा डालें। इस कारण धूला चुप ही रहा।

गाँव की औरतों ने भी उसकी खूब खबर ली। बड़ी देर के बाद एक-एक दो-दो करके कोई घर गई तो कोई भगतजी के ओसारे में बैठी-बैठी रोने वाली जीवी को दिलासा देने लगी।

आदमियों की भीड़ कम होने पर हीरा की बहू ने धूला को सीख देकर शान्त करते हुए कहा—"लो चलो, उठो! सवेरे भी चूल्हा नहीं जला। फिर खाया क्या होगा? उठो, मेरे घर चलो! खाने को देती हूँ। खाकर खेत पर सोने चले जाना। नाहक फजीहत कराये बिना ···"कहकर धूला को हाथ पकड़कर खींचने लगी। बोली—"उठो न।"

"नहीं-नहीं, कंकु भाभी! क्यों जबरदस्ती करती हो। खाने को तो यहाँ भी बनाया है। तुम जाओ, मैं खा लूँगा!"

परन्तु कंकु को आज धूला का विश्वास न था। हो सकता है कि वह घर रहे और रात में गुस्से में कुछ ऊँच-नीच कर बैठे। इसलिए उसे खिलाकर खेत पर भेजने में ही खैर थी। कंकु ने घर में जाकर देखा तो एक रोटी तैयार थी। सब हँडियाँ देख मारीं, पर सभी खाली थीं।

बाहर आकर ओसारे के थुन[1] के सहारे खड़ी ननद से कहा—"नाथी बहन, अपने यहाँ से कटोरी में थोड़ी-सी दाल ले आओ! जाओ, जाओ खिलाकर निकालूँ यहाँ से।" कहकर फिर धूला के पास आई—"अच्छा उठो, नहीं तो फिर खींचना पड़ेगा।"

धूला खड़ा हुआ। नाक सिनकी। ऊब के साथ बोला—"लेकिन मुझे भूख-जैसी तो कुछ भी नहीं कंकु भाभी! बेकार क्यों पीछे पड़ी हो!"

"तो यहाँ ज्यादा है ही क्या! यह एक ही तो रोटी है। लो, यह दाल भी आ गई। दाल में मींड़कर खाओ और यहाँ से लम्बे पड़ो! तुम्हारे लड़ाई-झगड़े सुनकर तो अब सारे मुहल्ले वालों की नाक में दम

१. खम्भा।

आ गया है।''

विवश होकर धूला खाने बैठा। कटोरी की दाल बेले में डाली और उसमें रोटी मींड़ ली। चबा रहा है कि नहीं इसका ध्यान किये बिना ही पौना हिस्सा निगल गया। हाथ धोते हुए बड़बड़ाया—''पता नहीं साले आटे में बिल्ली मूत गई है या कोई और बात है? कोई आटा ढके तब न? फिर कहती हो कि मारता है।''

''होगा, होगा! तुम्हें तो सभी लगेगा। अब पिछौरा, तमाखू आदि जो कुछ लेना हो सो लो और घर के बाहर निकलो!''

''घर खुला है, कंकु भाभी!'' कहकर धूला खेत की ओर रवाना हुआ।

उधर भगतजी के यहाँ एक तीसरा ही कौतुक हो गया था। महीन आवाज़ से रोती जीवी के कान में धूला को खाने के लिए बुलाती कंकु की आवाज़ पड़ी। सहसा उसका रोना बन्द हो गया। वह ऐसी बावली आँखों से देखने लगी जैसे स्वयं ही धूला की थाली में रोटी परस रही हो। बेले को खींचने के लिए हाथ बढ़ाती है तो देखती है कि सामने भगतजी आदि खड़े हैं। उसे भगतजी से घूँघट काढ़ने का भी होश न था। भगतजी की ओर देखते ही उनके नाम की चीख़ और रुदन एक साथ निकल पड़े—''भगतजी काका!'' दूसरे ही क्षण मुँह घुटनों के बीच में छिपा लिया।

भगतजी के पास खड़े दो-चार युवकों को विचित्र-सा लगा। भगतजी ने तो पूछा भी—''यह क्या है?'' पर उसे चुप देखकर कहने लगे—''रो अपने माँ-बाप को। इसमें भगत काका क्या करे?'' जीवी ने फिर सिर उठाया, घर की ओर देखा और फिर मुँह छिपा लिया। चाहे दबे हुए रुदन के कारण हो या अन्तर की घुटन के कारण—पर उसका सारा शरीर काँप रहा था। तीसरी बार ऊपर देखा तो उसकी आँखें इधर-से-उधर घूम रही थीं। चीख जैसी एक ज़ोर की आवाज़ लगाई—''भगत काका! रोटी में तो·····गज·····'' परन्तु 'ब' कहने के

पहले ही वह मूर्च्छित हो गई। भगतजी क्षण-भर के लिए सोच में पड़ गए, परन्तु सोचने की अपेक्षा बेहोश पड़ी जीवी की देख-भाल करनी ज्यादा ज़रूरी थी। "अरे, देख क्या रहे है ? तमारा (मूर्च्छा) आ गया है। देखते नहीं। ले चलो घर में, मैं खाट लाता हूँ !"

घड़ी-आध घड़ी में सब हो गया। एक जना सिर पर ठण्डे पानी की पट्टी रखने में लग गया। दो जने पिछौरे के छोर से हवा करने लगे। भगतजी ने नाड़ी पकड़ी। पिछौरे की 'सर्र्' की आवाज़ और इन चारों के हृदय की धड़कन के अलावा सब-कुछ शान्त था।

सूना घर छोड़कर जीवी को बुलाने के लिए आई कंकु तो यह हाल देखकर दहलीज पर ही रुक गई ! "हाय हाय ! यह क्या हो गया भगत काका ? उन्हें बुलाऊँ ? नाना से बातें करने गए हैं। आवाज़ लगाते ही·····"

भगतजी बीच में ही बोले—"वही आकर क्या कर लेगा ?"

कंकु अन्दर जाकर एक ओर खड़ी हो गई। बछिया की तरह पीछे-पीछे फिरने वाली नाथी से कहा—"जा न बहन ! घर में कोई घुस जायगा। मैं अभी आती हूँ। कहीं छोरा ही न उठ गया हो।"

नाथी तो ऐसी डर गई थी कि जैसे ही वह बाहर निकलेगी—वैसे ही हवा उसका गला दबा देगी। भाभी की गोद में छिपते हुए लाड-भरी आवाज़ में बोली—"नहीं जाती, जाओ; मुझे तो डर लगता है।"

लगभग आधी रात होने को आ गई थी। जीवी ने आँखें खोलीं। वह स्वयं कहाँ पड़ी है, ये सब कौन हैं आदि का निश्चय कर लेने पर वह सहसा होश में आई। तुरन्त खाट में बैठी होने लगी। हीरा ने सोचा कि जीवी भगतजी का मान रखने को ही उठ रही है। "सोई रहो तुम ! भगत काका बाहर जाते हैं। कोई बात नहीं।" कहकर हाथ पकड़ा और सुलाने लगा।

"नहीं, मुझे अपने घर जाने दो। मुझे मत रोको !" घबराई हुई आवाज़ से बोलती जीवी खड़ी हो गई।

कपड़ों को अच्छी तरह से ठीक-ठाक किये बिना ही वह घर की ओर चली। भगतजी से बोले बिना न रहा गया—"लेकिन घर में तूने क्या छिपा रखा है, जो ऐसी जल्दी कर रही है ? चुपचाप·····"

"अब मैं ठीक हूँ। मैं घर ही जाऊँगी।" कहती हुई जीवी ऐसी तेज़ी से घर की ओर चली जैसे बिलकुल स्वस्थ हो गई हो।

"अब कोई बात नहीं।" कहकर हीरा ने भी छुट्टी ली—अच्छा तो भगतजी मैं भी चलूँ। न जाने सूअरों ने खेतों में क्या किया होगा ?"

परन्तु भगतजी को अब भी कुछ अन्देशा था। "अच्छा।" कहकर हीरा को तो जाने के लिए कह दिया, पर उसके चले जाने के बाद सोचा—'हीरा से कहा नहीं, नहीं तो यदि उसकी बहू जीवी के साथ सोने चली जाती तो बहुत अच्छा होता।'

चाहे कैसे ही हो, पर भगतजी स्वयं खेत पर सोने न जा सके। ओसारे में बैठे-बैठे धूला के घर में दिखाई देने वाले मन्द प्रकाश की ओर देखते रहे। कभी हिम्मत न हारने वाला दिल आज बैठा जा रहा था।

परन्तु घर में जाकर चूल्हे के आये में हाथ-पैर मारने वाली जीवी का जी तो जैसे शरीर में ही न था। एक बार दरवाज़े तक गई और वापस लौट आई। बेले पर नज़र पड़ी। प्राण-जैसे आँखों में आ गए। फिर दरवाज़े की ओर मुड़ी। झटपट ओसारे से बाहर आई और यकायक ठिठक गई। पीछे मुड़ने को ही थी कि भगतजी की खाँसी सुनाई दी। जल्दी-जल्दी उधर चली, पर भगतजी के ओसारे की ओलाती[1] तक पहुँचते-पहुँचते तो उसके पैर जैसे टूट गए थे।

"क्या है जीवी बहू ? ऐसे क्यों·····" यह पूछते हुए भगतजी की आवाज़ ने उसे हिम्मत दी। ओसारे में चढ़कर भगतजी के पास पहुँचते ही बोल पड़ी—"भगत काका जल्दी करो! आज मुझे उनके बचने की आशा नहीं। ज़रा जल्दी·····।"

१. ओसारे या छप्पर का वह किनारा, जहाँ से ऊपर पड़ा पानी बहकर नीचे गिरता है।

भगतजी की आँखों के आगे से जैसे सारा पर्दा हट गया हो। बैठे होते हुए बोले—"तू अपने घर जा ! मैं जाता हूँ। महुआ वाले खेत में ही है न ?"

और खूँटी से लाठी उतारते हुए "तू बिना घबराये जा और घर जाकर सो जा !" कहकर घर खोला। अँधेरे में ही कुटीला खोला। लोटे में घी का बरतन औंधा किया और लोटा लेकर बाहर निकले।

ओसारे से उतरते हुए बोले—"उसकी ज़िन्दगी होगी तो कुछ न बिगड़ेगा। तू चुपचाप घर जा !"

किन्तु मचान के ऊपर पहुँचकर भगतजी ने धूला की जो हालत देखी तो घी पिलाने का विचार स्थगित कर दिया। अंधेरी रात के भयानक वातावरण की अपेक्षा मचान की हवा कई गुनी अधिक भयानक थी। वहाँ धैर्य के साथ बैठने का साहस या तो भगतजी कर सकते थे या वह, जिसकी घ्राणेन्द्रिय पूर्णतया नष्ट हो गई हो। भगतजी ने धूला के हाथ को अपने हाथ में लिया। नाड़ी देखी तो ठेठ बगल में जाकर पकड़ में आई। देखते-देखते वहाँ से भी ग़ायब हो गई। और एक आखिरी पछाड़ खाकर धूला का शरीर बिलकुल लकड़ी हो गया।

ज़ोर से साँस लेकर भगतजी खड़े हुए। लोटे के साथ मचान से उतरे और घर की ओर चलने लगे। सिर के ऊपर काले बादल झुक रहे थे। नज़र पड़ते हुए इक्के-दुक्के तारे ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे किसी अत्यन्त गहरे प्रदेश में जाकर खड़े हो गए हों। आस-पास की दिशाएँ अँधेरे की चादर ओढ़े सो रही थीं। मुर्दों के ऊपर कदम रखते किसी अघोरी की भाँति भगतजी गाँव की ओर चले जा रहे थे।

गाँव के कुत्ते ने उनकी विचार-शृंखला तोड़ी। विचारों की गठरी बाँधते हुए स्वगत कहने लगे—'इतनी अधिक बुद्धि होने पर भी मनुष्य अन्त में अशक्त ही ठहरता है।'

सीधे दरवाजे की ओर जाते हुए भगतजी बगल में कुछ खटका होने से चौंके—"कौन है ?" और जीवी को देखकर बोले—"यहाँ बाहर क्यों

बैठी है ? घर में से···''

"क्या हुआ भगत काका ?" जीवी ने घूँघट भी नहीं काढ़ा था।

"जो होना था वही तो····" बड़बड़ाते हुए भगतजी ने कहा—"अच्छा, मुझे उसके एक जोड़ी कपड़े लाकर दे !

"लेकिन मुझे बताओ तो सही !" किवाड़ खोलने के बाद फिर जीवी ने पूछा और भगतजी के मुँह की ओर देखने लगी।

"अच्छा, तू मुझे कपड़े दे पहले !" कहकर भगतजी बोले—"जो होना था, सो हो गया। अब जानकर भी तू क्या करेगी ? अच्छा, चल, ला, देर होती है। यह लोटा घर में रख देना !" कहकर भगतजी ने लोटा किवाड़ों के पास रख दिया। चलने को तत्पर जीवी से फिर कहा—"देख, होने वाली बात हो गई। अब तो हृदय को कड़ा करने में ही भलाई है। जैसे कुछ पता जानती ही न हो। यदि तूने इतना कर लिया तो बाकी सब मैं सँभाल लूँगा।"

सारा मुहल्ला सुनसान था। अन्य सब के ऊपर शासन करता भूरा कुत्ता 'यह तो भगत काका हैं' कहकर सबको चुप करता हुआ ओसारे के बीचों-बीच आकर ऐसे खड़ा हो गया मानो वह यह सोचकर आया हो कि 'देखूँ तो सही क्या मामला है ?' और कपड़ों को बगल में दबाए खेतों के रास्ते जाने वाले भगतजी के पीछे-पीछे कुछ फ़ासला रखकर, चलने लगा।

खेत के मचान से उतरते हुए भगतजी के हाथ में गन्दे कपड़ों और गूदड़ी की एक पोटली थी। नीचे रखे हुए कण्डे को लेकर झरने की ओर चल दिए। अब तक मक्का में बैठा हुआ भूरा कुत्ता फिर पीछे हो लिया।

अन्धेरे में झरने का पानी निधड़क बह रहा था। पानी की गहराई की अपेक्षा भगतजी के मस्तिष्क की गहराई कहीं अधिक थी। सोच-विचार के बाद नहाने का काम भी पूरा हुआ। धोती निचोड़कर कन्धे पर डाली। चलते-चलते उन जलते हुए कपड़ों की ओर फिर एक नज़र

डाली और कुछ याद आने पर वापस लौटे। किनारे से एक लकड़ी लाकर अधजले कपड़ों को नदी की धारा के हवाले किया और चल दिए गाँव की ओर।

अब तक किनारे पर बैठा हुआ भूरा भी साथ ही चल दिया। भगतजी ने पीछे देखा। भूरा को देखते ही कुछ चौके और मन-ही-मन हँसने लगे। 'भूरा, देखा यह तमाशा?' कहकर बगल में चलते हुए भूरा को ही जैसे समझा रहे हों ऐसे बड़बड़ाये—'हम मनुष्यों को कुछ-कुछ ऐसा भी करना पड़ता है भाई।'

भीगी हुई धोती को खूँटी पर फैलाकर भगतजी जब खाट में लेटे तब आने वाले अरुण का स्वागत करते मुर्ग़ों ने बाँग देनी शुरू कर दी थी। चक्कियों की 'घर्र्-घर्र्' आवाज़ भी सुनाई देने लगी थी। गीदड़ भी 'ह्वा-हवा' करके सीमा छोड़ रहे थे।

मचान के नीचे रखे हुए धूला के शव के पास बैठे सब लोगों के मुँह में भगतजी के ये शब्द थे—"हाँ भाई, हाँ, जानवर ही खा गया है।" पर आँखों में यही भाव था—'आखिर राँड बेचारे के प्राण लेकर ही मानी।'

इसी दृष्टि से देखने वाली गाँव की औरतों के बीच जीवी के हृदय की क्या दशा थी, यह कहना कठिन है। चूड़ियाँ फोड़ती एक देवी ने तो कह भी डाला कि "अगर ऐसा ही करना था तो मूरख, ये पहनी ही क्यों थीं?"

लेकिन जीवी की दशा ही ऐसी नहीं रह गई थी कि यह सब सुनती-समझती। और यदि सुनती-समझती भी तो उसमें ऐसा नया भी क्या था? धूला को उसीने ज़हर दिया है, यह तो वह स्वयं ही मान-मूनकर बैठी थी। औरतों के कहने के बावजूद न तो वह रोती थी और न विलाप करती थी। कहने वाले की ओर टुकुर-टुकुर देखती रह जाती थी।

एक प्रकार से यह अच्छा भी था। नहीं तो शाम के वक्त आ पहुँचने वाली बुढ़िया का विलाप—उसकी वे गालियाँ—सुनना बड़ा कठिन

होता। बुढ़िया को शान्त करने के लिए आने वाली स्त्रियाँ अपनी अभागिनी जात के लिए क्या-क्या कह रही थीं, यह सुनने की भी उसे रत्ती-भर चिन्ता न थी। वह तो आँगन के खम्भे के पास बैठी दबी नज़रों से क्षितिज की ओर देख रही थी। उन आँखों में विचारों की एक तरंग तक नहीं उठती थी।

'महेरी'[1] खिलाने के लिए आने वाले लोगों ने जब उसे उठाया तब उसे इस बात का भी पता न था कि उसे किसलिए उठाया जा रहा है। कुठीले के पास बिठाकर उसके आगे थाली रखी, पर वह खाने के बदले थाली की ओर देखने लगी। बेचारी औरतें जीवी को समझाते-समझाते थक गईं, पर वह समझने की दशा में हो तभी समझे न?

लेकिन दूसरे दिन तो उसने खाया भी और घर का काम-काज भी ठीक किया। परन्तु यह सब किया यन्त्र-चालित पुतली की ही भाँति। न कुछ बोलना न, चालना। जब तक सिर हिलाकर 'हाँ' 'ना' में जवाब दिया जा सकता था तब तक वह जीभ भी नहीं हिलाती थी।

उसकी सौतेली माँ रोने आई थी, पर उससे भी वह कुछ न बोली। भाई-बहनों के हाल-चाल तक न पूछे। माँ ने छः महीने तक शोक मनाने के बाद बुलाने की जो बात कही थी उसके बारे में भी उसने कुछ नहीं कहा।

कपड़े पहनने का भी कोई ठिकाना न था। जैसे-तैसे खोंस-भर लेती। सिर के अधखुले बाल भी हवा में उड़ते रहते।

परन्तु जीवी की दशा को समझने वाले भगतजी तो यही कहते—"मौत का ज़हर तो देर-सवेर सबको पीना है, पर यह जीते-जी ज़हर पीना कठिन है, समझे भाई!"

किसी-किसी को उस पर तरस आता और वह कहता—"बेचारी की दशा तो देखो! दिमाग़ खराब हो गया दीखता है।"

तो अधिकांश की राय थी—"कोई दिमाग़ नहीं ख़राब हुआ। तुम्हारे

१. ज्वार के आटे को छाछ के साथ पकाकर बनाया गया खाद्य पदार्थ।

और मेरे को खराब कर दे, ऐसी है यह। यह सब जान-बूझकर पागल बनना है।' और ऐसी ही अनेक बातें होतीं। कई बार थोड़े-बहुत शब्द जीवी के कानों से भी टकराते, पर वे टकराकर लौट जाते, बस। दिन-भर कलेस करते और बात-बात में गाली देते सास और देवर को भी वह कभी चूँ करके जवाब न देती।

यह सब होने पर भी जब वह पानी भरने जाती तो ढाल उतरने के वक्त रोज़ ऐसे देखती जैसे मानो खेतों के परे—सामने दिखने वाले बादलों के उस पार देख रही हो, जैसे सुदूर क्षितिज से कोई आने वाला हो।

उन्नीसवाँ प्रकरण

●

अधूरा गीत

विजय-दुन्दुभी बजाता हुआ भादों का बादल धरती से विदा ले चुका था। छैला की तरह झूमते चलने वाले बादलों के अतिरिक्त आकाश लगभग स्वच्छ था। आने वाली शरद् ऋतु के स्वागत में गुलाल उड़ाती सन्ध्या भी अस्त हो चुकी थी। शुक्ल पक्ष की दूज का चन्द्रमा क्षितिज के पास खड़ा मन्द-मन्द हँस रहा था।

पृथ्वी पर भी शरदागम के गीत गाये जाने शुरू हो गए थे। ऊधड़िया के लोगों ने भी हर साल की भाँति गाँव के बीच में 'गरबा' की व्यवस्था की थी। बालिकाओं ने टूटे-फूटे गीतों से शुरूआत भी कर दी। लेकिन शाम होने पर भी न तो गाँव के युवक ही गीत गाने को इकट्ठे हुए और न कोई युवती ही आई।

हालाँकि पहले एक-दो दिन तो ऐसा ही होता है कि कोई दो जने आते हैं और बराबर वालों को न पाकर लौट जाते हैं, लेकिन आज वहाँ तीन-चार जने आते और वे उस लौंडियायी पंचायत को देखकर निराश हो जाते। हाँ यदि कोई बुलाने वाला—आग्रह करके रोकने वाला होता तो पहले ही दिन से—भले ही देर से सही— शुरूआत तो हो ही जाती। और शुरूआत होने के बाद किसी को बुलाने या आग्रह करने की तनिक

भी आवश्यकता नहीं रहती। हर गाँव में कोई-न-कोई ऐसा माई का लाल होता ही है जो इस प्रकार के हर एक मामले में घर के ब्याह की तरह सारी जिम्मेदारी अपने सिर ले ले और आग्रह करके शुरूआत करा दे।

ऊधड़िया में ऐसे पद का अधिकारी—विशेषकर गीत गाने के मामले में—यदि कोई था तो वह कानजी ही था। उसके बिना आज तीन दिन बीतने पर भी सब सूना-सूना ही था। एक देवी ने तो कहा भी—"यदि आज काना भाई होता तो क्या गाने की रंगत न जमती?"

दो-चार आदमियों के साथ पास की ही खाट पर बैठे भगतजी के कान में ये शब्द पड़े। बोले—"इसीलिए तो कहने वाले ने कहा है कि दो लफंगे हों, दो साँड हों। दो चतुर हों और दो पागल हों तभी गाँव बसता है।" और धीरे-धीरे मूँछों पर हाथ फेरते हुए बड़बड़ाये—"क्या समय आया है?"

और भगतजी की ही कही हुई बात याद आने पर मनारे बोल उठा—"समय ऐसा नहीं है भगत काका! यह तो राँड बखत[1] ही ऐसी है।" और हँसने लगा। भगतजी की ओर देखकर हँसते हुए कहा—"मरेगा कोई गाना न गायगा तो भगत काका! तुम तो यह 'समय' और 'बखत' की कहानी कहो। ये सब सुनें तो सही!"

उसके बाद तो औरतों ने भी भगतजी पर हल्ला बोल दिया—"कहो-कहो भगत काका! हमें भी तो कभी ऐसी कहानी सुनाओ! पहले तो कभी-कभी कहते भी थे, परन्तु अब तो तुम भी बिलकुल समय-जैसे हो गए हो।"

लड़के भी भगतजी की खाट के चारों ओर सिमट आए। दूर पड़े एक

१. **समय और बखत (वक्त) में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन भगतजी ने एक कहानी कही है जिसमें समय को पुरुष का प्रतीक होने से पुल्लिग रूप में और बखत को स्त्री का प्रतीक होने से स्त्री लिंग में रखा है। हमने भी कहानी की आत्मा की रक्षार्थ उसे इसी रूप में लिया है।**

लक्कड़ पर बैठे दो-चार युवकों ने भी एक खाट उठाकर भगतजी की बगल में डाल ली। युवतियाँ भी पास सरक आईं।

अब भगतजी का छुटकारा न था। खाँसकर उन्होंने कहानी कहनी शुरू की—

"समय नाम का एक आदमी था। एक दिन वह पास के बड़े गाँव में सौदा-सुलफ लेने गया। तेल है, मिर्च है, अट्ट है, सट्ट है; यों लेते-लिवाते देर हो गई। समय ने जल्दी की। उन मिर्च-नमक की पोटलियों को एक में लपेटकर पीठ पर डाला और तेल की बोतल हाथ में लेकर लम्बे-लम्बे डग भरते हुए चला।

चलते-चलते समय मन में कह रहा था—'आज घर जाकर ऐसा बिना पानी का साग बनाऊँगा कि बस! सरसों का तेल तो ले ही लिया है। कढ़ाई में दो परी[1] डालकर, ऊपर से राई-मेथी छोड़कर ऐसा ज़ोर का बघार दूँगा!' लेकिन समय बघारता क्या अपना सिर? उसके घर में ऐसा कुछ था ही नहीं जिससे कि बिना पानी का साग होता। लेकिन समय भाई को इसकी कोई ख़बर ही न थी। उसे तो बहुत दिन बाद मिलने वाले सरसों के तेल का ज़ोरदार बघार देना था। जैसे दिमाग़ में दिये जाने वाले बघार का धुआँ नाक में घुस गया हो ऐसे समय को इस समय तो खाँसी भी आ गई। फिर भले ही घर जाकर वह रोज़ की तरह कढ़ाई खटकावे।"

इतनी बात होते-होते तो दूर बैठी औरतें भी न जाने कब पास सरक आई थीं। गरबा गाने वाली लड़कियाँ भी मौका पाकर वहाँ बैठ गई थीं। मुहल्ले के वृद्ध पुरुषों को जब कहानी की गन्ध आई तो वे भी चुपचाप आकर खाट की पाटी पर टिक गए। गरबा का दीपक[2] भी ऐसे शान्त और निश्चल भाव से जल रहा था, जैसे वह भी कहानी सुनने में तल्लीन हो। सबकी आँखें भगतजी की ओर लगी थीं। और यदि

१. एक नाप।

२. 'गरबा' के समय जलाया गया दीपक।

एक बुढ़िया की नज़र न पड़ी होती तो किसी को इस बात का पता भी न चलता कि गरबा के दीपक का घी कुत्ते के पेट में कब चला गया।

हुक्के के दो घूँट लेकर भगतजी ने कहानी को फिर आगे बढ़ाया। इसी बीच हीरा-जैसा हूँकरा भरने वाला भी आ गया। फिर क्या कहना था?

"इसके बाद तो समय भाई 'गेहूँ की रोटी बनाऊँगा, कंकु भाभी के यहाँ से थोड़ा-सा घी भी लाऊँगा। और·····' यों खूब मन के लड्डू खा रहा था। इस प्रकार रास्ते में खाना भी तैयार कर लिया। ऐसा करके जैसे ही खाना खाने बैठने की सोची कि उसके कान में औरत की-सी आवाज आई। समय ने मन में कहा—'घर में साली औरत तो है नहीं, फिर यह बोल कौन रहा है।' अगल-बगल नज़र डालकर देखा तो पता चला कि एक तो वह खुद ही रास्ते में जानमारी करके चल रहा है और दूसरे दाईं ओर एक औरत भी चली आ रही है। समय भाई ने सोचा कि चाल धीमी कर दे, पर रौब-ही-रौब में तेज चलना जारी रखा।

औरत ने दुबारा पूछा—'किस गाँव के रहने वाले हो?'

'ऊधड़िया।' कहकर समय भाई आगे बढ़े।"

अपने ही गाँव का नाम सुना तो लोग खिलखिलाकर हँस पड़े। "होगा कोई हीरा भाई-जैसा।" तो दूसरे ने किसी और का नाम लिया।

भगतजी ने आगे कहा—"वह औरत अपनी इस काली के जैसी मुँहफट होगी। पूछा—'लेकिन अपना नाम तो बताओ!'

'मेरा नाम है समय।' कहकर ढीले पड़ते समय भाई ने मन की लगाम खींची। और फिर तेजी से चलने लगे। उस औरत ने ज़रा नखरे से कहा—'ओहो, ऐसे गज-गज-भर के डग भरकर चल रहे हो ज़रा साथ तो दो।'

समय भाई के पैरों में जैसे किसी ने लाठी मार दी हो। मन में

सोचा—'एक से दो भले।' और धीमे पड़ते हुए पूछा—'लेकिन अपना नाम तो मुझे बताया ही नहीं।'

'मेरा नाम है बखत—' कहकर उस औरत ने अपनी तारे-जैसी आँखें समय के ऊपर जमा दीं।

समय भाई कुछ खिले। बोले—'नाम तो अच्छा रखा है।'

लेकिन बखत भी उसका ऊपल्ला पाट थी। होटों में हँसती हुई बोली—'तो तुम्हारा ही नाम कौन-सा बुरा है? समय कैसा सुन्दर नाम है।' कहकर वह समय भाई की ओर मोहक दृष्टि से देखने लगी।"

कहानी कहते हुए भगतजी अभिनय भी कर रहे थे। यह देखकर औरतें पेट पकड़कर हँस रही थीं।

भगतजी ने आगे कहा—"ऐसे करते-करते दोनों जने शाम को ऊधड़िया आ पहुँचे। समय ने सोचा—'बेटा! तूने औरत का साथ दिया सो तो ठीक किया, पर अब वह जायगी कहाँ?' समय भाई मुहल्ले के नाके पर ही रुक गए। बखत से पूछा—'लेकिन अब तुम जाओगी कहाँ?'

औरत को आश्चर्य हुआ। समय के मुँह की ओर देखते हुए बोली—'क्यों, तुम तो कहते थे कि ऊधड़िया में रहता हूँ। तुम्हारा घर तो होगा न?'

सिर खुजाते हुए समय भाई बोले—'घर तो है! प····र···न्तु घर में मैं अकेला ही हूँ।'

'तो मैं भी तो अकेली ही हूँ?' कहते हुए बखत उसके आगे-आगे हो ली। बेचारे समय भाई भी डरते-डरते और यह सोचते हुए कि कहीं कोई देख न रहा हो, परेशान-से पीछे-पीछे चले।

समय कमर की करधनी में लगी चाबी खोलने को हुए कि उससे पहले ही बखत ने उसे खोल लिया और दरवाजा खोलकर ऐसे घर में घुस गई जैसे घर की ही औरत हो। समय भाई यों खुद भी शौकीन तबियत थे। जेब में दियासलाई भी थी और शहर से पैसे का पान-बीड़ी भी

लेते आये थे। बखत ने दियासलाई लेकर दिया जलाया। मुँह फाड़कर खड़े समय के हाथ से बोतल लेकर—'बैठो न खाट पर' कहा और बोतल को पनहरी के ऊपर लगी कील से लटका दिया। समय मुँह देखता रह गया—'बेटा! कील होते हुए भी तू बोतल को चूल्हे के ऊपर क्यों रखता था? इतना भी न सूझा?' इसके बाद बखत पोटली लेकर आराम से घर में बैठी। छोटी-छोटी पोटलियाँ देखीं। 'इसमें क्या है? इसमे क्या है?' यों पूछती हुई एक के बाद एक खोलने लगी।

खाट पर बैठे समय ने मन में कहा—'चाहे जो-कुछ करो, पर घर तो औरत का ही है समय'!"

हीरा ने समर्थन किया—"हाँ भाई!" और लोगों की ओर देखकर बोला—"एक तो संड-मुसंड आदमी और उस पर मिल गई तितली-जैसी औरत; फिर क्यों नहीं होगा?"

भगतजी ने आगे कहा—"इसके बाद तो भाई समय के नहाने के लिए गर्म पानी भी किया और बिना पानी के मूँग राँधकर तीन रोटियाँ भी बना डालीं। खाने के लिए बैठे समय को लगा—'मान चाहे न मान समय! पर है यह अपने पिछले जनम की सम्बन्धिन ही'।"

"तुम्हें तो लगेगा ही।" काली धीमे से बड़बड़ाई।

भगतजी कहने लगे—"बखत बाट देखती बैठी थी कि कब समय की थाली की रोटी खत्म हो और कब दूसरी रखे। लेकिन रोटी तो तब न खत्म हो जब कि खावे। खाने वाला आज हर्ष से फूला नहीं समाता था। एक गस्सा मुँह में रखता था और झुक-झुककर बखत के मुँह की ओर देखता था। बखत से कहे बिना न रहा गया—'छोड़ो न, यों व्यर्थ की बातें क्यों करते रहते हो?'

समय हँसकर बोला—'ऐसी बखत इस जनम में फिर कब···' परन्तु 'आयगी' कहने से पहले ही बखत बोल उठी—'बखत तो आ ही गई है न? जी ठिकाने करके खा लो चुपचाप'।"

हीरा बोल उठा—"देखी लुच्ची की बात! कैसी चालाक

औरत है ?''

''चालाक तो है ही।'' कहकर गाँव के लोग हँसने लगे।

''फिर भगत काका ?''

''ज़रा हुक्का तो पीने दो !'' कहकर दो-चार कश खींचे और फिर हुक्के को चलता किया। बोले—''फिर तो खा-पीकर दोनों जने सो गए !''

भगतजी के पास वाली खाट से किसी युवक ने प्रश्न किया—''एक साथ या अलग-अलग ?'' और इस प्रश्न ने तो न केवल समस्त मण्डली को वरन् भगतजी को भी हँसा दिया। भगतजी ने जवाब भी दे दिया—''यह तो सब समझ लेने की बात है भाई ! समय-जैसे संड-मुसंड आदमी के यहाँ ऐसे कौन से मेहमान आते थे, जो दो-चार खाटें रखता ?'' और यह सुनकर तो लोग और भी ज्यादा जोर से हँस पड़े।

''दिन निकलते ही लोगों को इस बख़त के आने की खबर पड़ी। कुछ दिन तक तो लोगों ने सोचा कि होगी कोई नाते-रिश्तेदार; लेकिन बाद में सन्देह हुआ कि चाहे-जैसी नाते-रिश्तेदार हो, दो-चार दिन ही रहेगी न ? कहीं इस प्रकार दस-पन्द्रह दिन थोड़े ही रहेगी।

और अब तो समय भाई का नक्शा ही बिलकुल बदल गया। न पानी भरने जाना और न पीसना-कूटना। नहाने का पानी भी बखत ही भर लाती।

पनिहारिनों से पूछे बिना न रहा गया—'ऐं बखत ! समय तेरा क्या लगता है ?'

बख़त भी उनकी गुरु थी। बोली—'यह तो समय से ही पूछना !'

लोगों ने फिर समय से पूछा—'ऐं, समय ! तेरे घर यह कौन आई है ?'

खाट में आड़े लेटकर हुक्का गुड़गुड़ाने वाले समय ने जवाब दिया—'बखत है, दूसरा कौन आने वाला था।'

'अरे, यह तो हम भी जानते हैं कि बखत है। लेकिन तेरा और

उसका सम्बन्ध क्या है ?' हीरा-जैसे घुटे हुए आदमी ने पूछा।

और समय ने भी वही जवाब दिया—'यह तो तुम बखत से ही पूछना !' ''

और जो भगतजी को कहना था उसे गाँव की औरतों ने कह दिया—''मरा समय भी खूब था।''

बोलने के लिए तैयार बैठे हुए मनारे ने उछलकर कहा—''इसमें बेचारा समय क्या करे ? यह तो राँड बखत ही ऐसी थी।''

तभी बगल से मुखिया बोला—''भैया, किसी को दोष देने की ज़रूरत नहीं है। समय और बखत दोनों ही एक-से हैं।''

और भगतजी ने कहानी को समाप्त करते हुए निष्कर्ष निकाला—''उस दिन से समय और बखत एक हो गए हैं।''

जैसे अभी होश में आये हों, ऐसे लोग बोले—''हाँ भाई हाँ ! समय कहो या बखत, दोनों एक-के-एक हैं।'' और ''अरे बाप रे ! मेरे तो पैर ही सो गए।'' कहते हुए खड़े हुए। पर इतने में ही भगतजी कहने लगे—''ऐसे कोई नहीं जाने पायगा। इकट्ठे हुए हो तो गाना गाकर ही अलग-अलग होंगे। कहानी कोई यों ही नहीं कही है, समझे !''

जब साधारण दिनों में ही भगतजी को नाराज़ करने की किसी की हिम्मत न थी तो आज तो होती ही कैसे ? फिर आज सबको गीत गाने का जोश भी था। देखते-देखते घेरा बना डाला।

आड़े लेटकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए भगतजी ने इन युवक-युवतियों को गरबा में घूमते देखकर मन में कहा—'और क्या ? जवानी के ये पाँच वर्ष ही तो नाचने-गाने के हैं।' और एक भारी साँस लेकर आगे बोले—''फिर तो कोई कहेगा ही नहीं कि उठ और गा !'

माता के छोटे-छोटे पाँच गीत गाने के बाद तो युवकों को कोई रोकने-टोकने वाला था ही नहीं। पैर भी अभी-अभी खुले थे। आवाज़ भी तीखी हुई थी। चार युवक गवा रहे थे। बाकी के युवक और युवतियाँ सुर पूर रहे थे—

"भेमा, सगवाड़ा की गली तो होति है सांकरी री !
भेमा, जो मैं बैल लऊँ तो अकेली री !
तेरो हंकवैया है परदेस में री !
भेमा आधो जोबन गयो यों ही बीत ।"

न जाने कैसे भगतजी को यकायक कानजी की याद आई। जैसे ही वे एक भारी साँस लेकर उसे निकालने को हुए कि एक लड़का ख़बर लाया—"काना भाई आये ।" वहाँ बैठे हर एक के कान में यह बात पहुँच गई। गाना गाते हुए हीरा ने भी सुनी। झट बाहर निकल गया। लेकिन भगतजी ने उसे रोका—"तू गा, हम उसे यहीं बुलाते हैं।" और जब तक भगतजी कहें, तब तक तो तीन लड़के दौड़ भी गये।

गाँव की स्त्रियों के पीछे कोई ऐसे गुड़-मुड़ हुए बैठा था जैसे पूस की ठण्ड में सिकुड़ गया हो। कानजी की ख़बर सुनते ही उसने सिर ऊपर किया। उठने की तैयारी की, पर उठ न सकी। इतने में ही कानजी दिखाई दिया। उन सबमें शायद उसीने सबसे उसे पहले देखा होगा। वही लाल साफ़ा और वही कमीज़-कोट। चाल भी पहले-जैसी ही तेज़ थी। मुँह अवश्य कुछ सूखा हुआ लगता था। हो सकता है कि अँधेरे के कारण लगता हो ? लेकिन यह सब उसने एक ही नज़र में देख लिया था। दूसरी नज़र डालकर तो वह उठी और हाथ बगल में दबाए तथा नीचा सिर किये दबे पैरों चली गई।

एक औरत ने तो पीछे से कहा भी—"मालिक को मरे अभी पूरा महीना भी नहीं हुआ और गाना सुनने के लिए आने में राँड को शरम भी नहीं आती।"

तभी जीवी के मुहल्ले में रहने वाली एक औरत बोल उठी—"तुम तो कहती हो, पर वह बेचारी क्या करे ? रात-दिन कान के कलीले झाड़ने वाली गालियाँ कैसे सुने बहन ! इससे तो यहाँ आकर कुछ देर बैठ जाय तो जी तो बहले। उसे कौन-सा गीत गाना था जो शरम आती। बुढ़िया की काँय-काँय से तो अब सारा मुहल्ला ही तंग आ गया है।"

जबकि उधर भगतजी कानजी को देखते ही कह रहे थे—"ओ हो, इतनी रात गये कहाँ से भाई !" भगतजी से भेंट कर के 'राम-राम' कहते हुए कानजी बोला— "दिन छिपे तो मोटर ने बाखा में उतारा। फिर देर तो होती ही।"

सबसे भेंटने के बाद कानजी भगतजी के पास बैठा। लेकिन मनारे आदि युवकों ने उससे गीत गाने का आग्रह किया—"थक तो गये होगे काना भाई, पर दो-एक गीत तो तुम्हें गाने ही पड़ेंगे। हमने भी आज ही शुरू किये हैं।

भगतजी को भी यह अच्छा लगा। कानजी को हुक्के के दो घूँट लेने देकर उन्होंने उठाया—"तेरे बिना तो सब सूना था। इन सबको ज़रा बता कि गीत कैसे गाना चाहिए, उठ !"

कानजी उठा और हीरा के गले में हाथ डाला। हीरा ने मनारे के गले में और मनारे ने चौथे के। यों घूमते-घूमते गरबा के आस-पास चार-पाँच चक्कर तो वैसे ही लगाये। कानजी ने हीरा से सलाह कर ली कि कौन-सा गावेंगे। दो-तीन नाम लिये, पर हीरा ने "यह तो गा लिये" कह-कर मना कर दिया। अन्त में कानजी ने नया ही गीत उठाया। हीरा को उसने पंक्ति गाकर सुना दी। राग और पंक्ति के बारे में भी बताया। मनारे तथा दूसरा युवक सामने की ओर गये। साथ के लोग जब तक दुहराते तब तक कानजी हीरा को दूसरी पंक्ति बता देता—

"रानी, एक पलक ते उछार्‌यो
अरु दूजी ते लीयो संभारि।"

कानजी की इस एक पंक्ति ने लोगों के हृदयों को मतवाला बना दिया। दूसरी बार उसी पंक्ति को दुहराया और जैसे वातावरण को अपने अधिकार में कर रहा हो ऐसे हाथ के लहके के साथ दूसरी पंक्ति गाई—

"दूधिया अँखियाँ भरिकै न्हवायो
अरु पुतरी ते करि दीयो स्याह।"

तीसरी पंक्ति कहते हुए तो उसके हाथ के इशारों और मुँह के भावों

में ऐसा तादात्म्य हो गया था जैसे वह लोगों को भूल गया हो—

"रानी ! हुलसित हिय ते खिलायो
अरु छाती ते करि दीयो दूर।
रानी ! अँगुरी ते क्यों तो इसारो कर्‌यो
क्यों अँगूठा ते धकेलि कर्‌यो मजबूर॥"

उसकी अन्तिम पंक्ति गाते-गाते तो लगा, जैसे वह किसी से विनय कर रहा हो। हल्के-हल्के कम्पन के साथ निकलती हुई उसकी आवाज में ऐसा दर्द था जैसे उसकी आत्मा ही पिघलकर उसमें समा गई हो। आकाश में कहीं से एक बदली आ गई थी—

"रानी ! दूर भागूँ और तोहि छोड़ूँ मैं
और करूँ कहा दुख को मार्‌यो रे।
ओ रानी ! ओस हँसूँ निसि रोवत बीते,
क्यों मोहि संकट में डार्‌यो रे।
मेरी विनय यही, अपनी आँखिन में
तू अंजन सारिबो छोड़ि दीजो रे।
आज ते काली कटीली इन भौंहन ते
तू इसारो करिबो छोड़ि दीजो रे॥"

गीत पूरा होने पर क्षण-भर के लिए तो इतनी गहरी शान्ति व्याप्त हो गई कि बगल की दीवार के पास से किसी की हल्की सिसकी-जैसी भी सुनाई दी। तभी तो एक औरत ने पूछा—"अरी, वहाँ घर में किसी का छोरा रो रहा है क्या ?"

"होगा किसी का !" कहती हुई एक औरत खड़ी हुई।

"लो अब तो मुर्गा बोलने को हुआ, उठो!" कहती हुई दूसरी औरत भी उठी। लेकिन इतने में ही चार-पाँच लड़कियों के साथ काली को खड़ी होते देखा। वे नाथी के साथ सलाह करती और हँसती हुई गरबा के पीछे घूमने लगीं। एक औरत ने तो कहा भी—"क्यों री ! अभी तेरा मन नहीं भरा क्या ?"

"नहीं, क्या काना भाई को मुँह-तोड़ जवाब दिये बिना वह रह सकती है ?"

काली भी गाँव में 'गीतों का खज़ाना' कही जाती थी। फिर कानजी के गीत का—और वह भी ऐसे गीत का—जवाब दिये बिना वह कैसे रह सकती थी ! लोगों के कथनानुसार कानजी यदि 'गाँठ के' जोड़ता था तो काली भी जहाँ-तहाँ से सीख आती थी। और जैसे अपने इसी आत्म-विश्वास की दृढ़ता का प्रमाण दे रही हो ऐसे काली ने एक पंक्ति गाई—

"गीत अधूरो न छोड़ रे, बालम !
गीत अधूरो न छोड़।"

तीन तालियों पर घूमती काली की छटा ही अलौकिक थी। चैतन्य होकर बल खाती उसकी देह-लता, पैर के तलुओं और तालियों की ताल तथा इन सबके साथ कण्ठ का सुमेल तो एक-मात्र काली ही साध सकती थी।

कानजी ने हुक्का छोड़कर गीत पर कान दिये—

"हियरा में आई न ठेल रे बालम
होठ पै आई न ठेल।.....गीत०"

और जैसे यह कम हो ऐसे काली ने कानजी की ओर ज़रा गर्दन मोड़कर तीसरी पंक्ति गाई—

"हियरा ते पगले न खेल रे बालम,
भोली ते ऐसे न खेल।.. गीत०"

कानजी ने एक भारी साँस ली और पीछे की कड़ी सुनकर तो साँस लेना भी भूल गया—

"पास बुलाय न धकेल रे बालम,
छाती से दूर न धकेल।..गीत०"

और अन्तिम कड़ी सुनकर तो कानजी की शक्ल ऐसी हो गई, जिसे देखकर यह कहना मुश्किल था कि वह हँस रहा है या रो रहा है—

"छाती से दूर न धकेल रे बालम,
हियरा ते पगले न खेल !"

इसके बाद तो काली के साथ कानजी का हृदय भी गा—रो रहा था—

"गीत अधूरौ न छोड़ रे बालम,
होठ पै आई न ठेल !"[1]

कानजी की आँखों में पानी था जब कि काली की ओर लगी अन्य आँखों में आश्चर्य और आनन्द दोनों थे। औरतें तो दाँतों-तले अँगुली दबाकर रह गईं। कोई कहती थी—"न जाने राँड कहाँ से सीख आती है। एक-से-एक बढ़कर निकालती है।" तो कोई कानजी को इक्कीस ठहरा रही थी—"तो काना भाई ही कौन कम है ? मरा, न जाने अपने-आप बनाता है या किसी किताब से निकालता है।"

और इस प्रकार बातें करते-करते औरतें उठने लगीं।

भगतजी और हीरा के साथ उठने वाला कानजी भी घर की ओर चला, पर दिमाग़ में तो 'गीत अधूरौ न छोड़' ही घूम रहा था।

बड़ी रात तक जागते पड़े रहने वाले कानजी को तो यह भी लगा—'कहीं ऐसा तो नहीं कि इसे जीवी ने बनाया हो।' और एक भारी साँस लेकर करवट बदलता हुआ बोला—"गीत अधूरा छोड़ने-जैसा ही हुआ है न !"

१. श्री उमाशंकर जोशी।

बीसवाँ प्रकरण

●

आया क्यों था ?

दिन निकल आया था। भगतजी के ओसारे के अलाव में दो पत्थरों और एक जलते लक्कड़—यों तीन चीजों पर पतीली रख दी गई थी। पतीली में पानी, गुड़ और चाय तीनों ही वस्तुएँ एक-रस होकर उबल रही थीं।

घर के चूल्हे पर चढ़ाई हुई हँडिया में दाल डालकर भगतजी बाहर आये। अलाव की ओर दृष्टि डालकर औलाती के नीचे खड़े होकर आवाज दी—"अरे हीरा, कितनी देर है ?"

"आ गया भगतजी !" कहता हुआ दूध का लोटा लिये हुए आ पहुँचा। बैठक में घुसते-घुसते भगतजी ने रतन का हाथ पकड़े हुए कानजी को भी आते देखा। सामने से मनारे भी बिना बुलाये आ टपका। और चाय छानते-छानते तो खेत को जाते हुए तीन जने और भी भगतजी के जरा-सा कहने पर ही जम गए।

पीतल के प्याले और तश्तरी के दो ही सैट थे। लेकिन प्याले और तश्तरी का सैट होने से ही चाय नहीं पी जाती। कानजी तो शहर का आदमी था इसलिए उसके लिए तो प्याले और तश्तरी में देना ही था, पर दूसरों के लिए तो प्याले या तश्तरी में से एक भी काफ़ी था। तीन

जनों को देने के बाद हीरा को लगा कि अगर वह खाली होने की प्रतीक्षा में बैठा रहा तो घर-मालिकन या पकाने वाली के हिस्से में तो धुआँ ही आयगा। लम्बे-लम्बे डग भरते हुए घर से दो कटोरियाँ और बेला ले आया। भगतजी तथा उनमें से एक को कटोरियाँ दीं। मनारे को बेला देकर वह खुद जैसे ही लोटा मुँह से लगाने को हुआ कि दो प्याले और तश्तरियाँ आ गईं। (कानजी वाली तश्तरी में रतन चाय पी रही थी) लेकिन इसे धोवा-धाई की तबालत करने की अपेक्षा यही ठीक है। बेचारे हीरा ने लोटे को अधर ही मुँह पर झुकाया, जैसे भाँग पी रहा हो। कानजी ने तो कहा भी—"अब यह तश्तरी ले-ले, जल जायगा।"

हीरा ने मुँह के कुप्पे में भरी हुई चाय को गले के नीचे उतारते हुए कहा—"तुम क्या जानो? जिससे आधा कोठा सिक जाय ऐसी गर्म चाय अगर नहीं पी तो फिर चाय की अपेक्षा छाछ पीना ही क्या बुरा है?" और बाकी की चाय मुँह में उँडेलते हुए आगे कहा—"इतनी-सी चाय के लिए तश्तरी और प्याले का क्या इन्तज़ार करूँ?" कहकर फिर लोटे को मुँह के प्याले में औंधाया और उसे खाली करके एक ओर सरका दिया। मुँह की चाय गले में उतारते हुए हीरा को जो देखा तो कानजी से बिना कहे न रहा गया—"लेकिन अगर सच पूछा जाय तो हीरा! तेरा मुँह कप से छोटा नहीं बैठेगा, समझे! यह तूने सोचा भी खूब कि अगर कप में निकालेगा तो ज्यादा दिखाई देगी, इसीलिए चलो लोटा ही सही!"

"तो भी कोई बुराई नहीं कानजी!" कहकर भगतजी ने आगे कहा—"दो दिन हुए, बेचारा चाय के बिना रह गया था। उसे देखते हुए यह ज्यादा तो नहीं कही जा सकती।" कहकर भगतजी दो दिन पहले की बात कहने लगे।

लेकिन घर से खेत पर जाने को निकले उन आदमियों के लिए यह सम्भव न था कि अधिक देर तक बैठ सकते। एक जने ने चिलम में अँगारा रख लिया। बाकी के दो में से एक ने कहा—"अच्छा भगतजी,

हम तो चलें, नहीं तो तुम्हारी बातों में रह गए तो वही बात हो जायगी कि 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास'।" और इतना कहकर वे हँसिये लेकर हँसते हुए चल दिए।

"मुझे भी तो चलना है न ?" कहकर भगतजी हुक्का पीने झुके।

हीरा ने पतीली और कप आदि मनारे की ओर खिसकाते हुए कहा—"अरे देखो तो सही, यह सब भगत काका के सिर मढ़े जा रहे हैं।" और यह कहकर उनको मनारे के सिर मढ़ दिया। भगतजी के हाथ से हुक्का लेते हुए, "लाओ न भगतजी, ज़रा दो घूँट तो लेने दो !" कहकर दो बड़े-बड़े घूँट लिये और खड़ा हो गया।

कानजी ने हीरा की ओर देखते हुए कहा—"तुम सबको अपनी-अपनी पड़ी है, पर भगत काका की भी खबर-सुध लेते रहते हो कि नहीं ?"

"अब तो भगतजी का एक ही खेत है। कल तो नहीं, पर परसों भगतजी के खेत की ओर जाना है !" कहकर चल दिया।

यह ठीक है कि भगतजी के पास दो बैल थे, पर अधिकतर उनकी खेती गाँव ही निबेर देता था।

कानजी को कुछ जल्दी थी, पर उसे भगतजी से बातें करनी थीं। कुछ कहने ही जा रहा था कि "मैं ज़रा दाल देख आऊँ !" कहकर भगतजी को उठते देखा। कानजी "अच्छा" कहकर चुप हो गया।

कानजी दोनों पैर खाट के ऊपर रखकर घुटनों पर हाथ बाँधे बैठा था। उसकी नज़र सामने के घर के ऊपर जमी थी। जीवी को उसने दो-तीन बार देखा तो था, पर अभी पूरा मुँह नहीं देख पाया था। फिर आँख-से-आँख मिलने की तो बात ही क्या ?"

इससे पहले बहुत-से आदमियों ने कानजी को जीवी से सम्बन्धित वे सब नई-पुरानी बातें बता दी थीं जो कि गाँव में होती रहती थीं। परन्तु उन बातों में न तो भर्त्सना थी और न क्रोध-भरी गालियाँ। इसके विपरीत यह भावना थी—"राँड करने को तो कर गई, पर अब उसका

पाप उसके कलेजे को ही खाये जा रहा है। तुम देखना तो सही कि कितनी ज्यादा सूख गई है। न तो किसी से बोलती-चालती है और न फुर्ती से काम ही करती है। अगर कभी हँसती भी है तो डाकिन की तरह डर लगे ऐसे।"

इस सारे मामले पर ग़ौर करने के बाद भी कानजी के दिमाग़ में यह नहीं बैठ रहा था कि जीवी जहर दे सकती है।

भगतजी को अभी समय लगेगा और हो सकता है कि बातें करते-करते देर भी हो जाय, यह सोचकर कानजी ने पास ही खेलती रतन को बुलाकर कहा—"बेटी जा, अपनी माँ से कहना कि काका की राह न देखे। वह सीधा खेत में ही जायगा।" इस बात को अच्छी तरह रटाकर उसे घर की ओर रवाना किया। काका की लाई हुई घाघरी-फरिया को उठाकर ठीक से सँभालती हुई रतन ने भगतजी का आँगन तो पार कर लिया पर इतने में ही उसकी नज़र घर से बाहर आती हुई जीवी पर पड़ी। यह शुभ समाचार सुनाये बिना वह कैसे रह सकती थी। भगतजी से बातें करते काका की ओर दृष्टि डालने के बाद उसने जीवी की ओर दो कदम बढ़ाये और बोली—"काकी. ओ काकी! देख वे काका···"

कानजी के कान में यह आवाज़ आई तो वह झिड़की देते हुए बोला—"जाती है कि आऊँ?" रतन से कहीं ज्यादा डर जीवी को लगा। तिरछी नज़र से कानजी को देखा, पर दोनों नज़रें एक न हो पाईं। कानजी अब भी रोषपूर्ण दृष्टि से रतन की पीठ को देख रहा था। काम में लगी जीवी के मुँह से एक भारी निःश्वास निकल गया।

कानजी भगतजी से कुछ पूछना चाहता था, पर न जाने क्यों उसने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत दूसरी ही बात पूछी—"मुझे धूला के यहाँ शोक प्रकट करने जाना है भगतजी! क्या उसका भाई मौजूद रहेगा? न हो तो तुम···"

"उस लड़के का कोई ठिकाना नहीं। ला, मैं ही चलूँ!" कहकर भगतजी उठे। जीवी तथा नानी बुढ़िया को खबर करके वे स्वयं छप्पर में

आकर रोते हुए बैठ गए। सामने से कानजी भी आ गया।

शोक प्रकट करने के बाद दोनों जने धूला के ओसारे में बैठे तो सही, पर बुढ़िया का विलाप सुनकर तो भगतजी-जैसे को भी लगा कि यदि यहाँ न बैठे होते तो अच्छा था। "मैं जरा चूल्हा देखूँ" कहकर उठे भी। परन्तु कानजी 'मैं उठूँ या नानी काकी के चुप होने पर उससे मिलकर ही जाऊँ' इस असमंजस में न उठ सका।

जब किसी जवान पट्ठे और घर चलाने वाले लड़के का यकायक चला जाना किसी भी माता के लिए असह्य होता है तब मौत के मुँह में बैठी बुढ़िया को यह कष्टप्रद लगे तो क्या आश्चर्य है। उसमें भी आज उसे अपना दुःख सुनने वाला वास्तविक पात्र मिला था। ऐसी दशा में उसकी जीभ या हृदय किस प्रकार वश में रह सकते थे ? विलाप करती हुई कह रही थी – "मेरे बेटा ! दुर्लभ मित्र ने···हँसी-खुशी औरत कराई बेटा ! ···! बेटा···आधी रात के समय संकट झेलकर तुमको औरत दिलाई···। बेटा, आज तुम्हारा साथी परदेस से घर आया है···! बेटा ! अब उससे 'आओ', यह कौन कहेगा···!"

और इसके बाद बुढ़िया क्रोधाभिभूत होकर गालियाँ देने लगी— "औरत करवाने वालो तुम्हारा भला हो···! राँड अभागिनी मिली··· और मेरी ज़िन्दगी खुवार की।"

जब कि जीवी धूला के मरने के बाद से आज पहली बार इतनी ज्यादा रो रही थी। इस रुदन में न तो कोई विलाप था और न एक सा सुर; छोटे बच्चे की तरह सिसक-सिसककर रो रही थी।

इन दोनों के बीच कानजी की दशा बड़ी विषम थी। बुढ़िया के विलाप से जीवी पर आया हुआ गुस्सा उसकी सिसकियों में बह जाता था। बुढ़िया के दुःख और जीवी की सिसकियों का कारण वह स्वयं है, यह मानकर कानजी अपने-आप पर ही खीझ रहा था। उसे अधिक बैठना कठिन हो गया। व्यर्थ के विचार को एक ही निःश्वास में अलग करके वह उठा और भगतजी के घर की ओर न जाकर सीधा अपने घर

को चल दिया। मनारे के बाप ने तो कहा भी—"बुढ़िया के चुप होने तक तो बैठते भाई ?"

कानजी के बदले गोबर बीनती एक औरत ने जवाब दिया—"बैठने का मन ही कैसे हो ? जब दो घड़ी बात करने वाला ही उठ गया तब किसके सहारे बैठे ?"

"ठीक है।" कहकर कानजी घर न जाकर सीधा खेत की ओर ही मुड़ा। न जाने क्यों उसे नौकरी से आने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अनेक बार अपने से यही प्रश्न पूछा—'लेकिन मैं यहाँ आया ही क्यों ?'

जलते-भुनते भी उसे बुढ़िया पर तरस ही आता रहता था—'सच-मुच बेचारी की जिन्दगी खवार कर दी है।' एक बार जीवी से मिलकर उससे अच्छी तरह लड़ने का मन भी हुआ।

एक भारी निःश्वास के साथ मन-ही-मन कहा—'अरी हत्यारी ! मेरे लाने की कुछ तो लाज रखती। मैं क्या कहूँगा, यह जानकर मुझ पर क्या बीतेगी, यह विचार भी तुझे नहीं आया।'

लेकिन दूसरी ओर जब उसे जीवी का हृदय-विदारक रुदन, उसका अस्थि-पंजर-जैसा शरीर आदि याद आते तो वह यही सोचता—'तू चाहे जितना रो, चाहे जितना पछता, पर अब उससे होगा क्या पगली ! मैं जानता हूँ कि तूने मजबूर होकर ही यह कदम उठाया होगा, पर तेरे इस दुःख को मैं किससे कहूँ ? जो-कुछ किया है, सो भोग !'

कानजी का जी काम करने में भी नहीं लगता था। जैसे-तैसे करके दिन पूरा किया। साथ ही मन में निश्चय भी कर डाला—'कल या परसों तो चले ही जाना है।'

रात को हीरा के यहाँ खाना था। खा-पीकर दोनों जने हुक्का पीने बैठे थे। हीरा नौकरी के हाल-चाल पूछ रहा था—"कैसी नौकरी है, कुछ बता तो सही !"

"अब तो एक मिल में नौकरी मिल गई है, लेकिन यदि पहले की

नौकरी की बात तुझे बताऊँ तो तू विश्वास नहीं करेगा।"

"तो भी कैसी थी, बता तो सही !"

"कैसी क्या, औरतों के लहँगे धोने की थी।" कहकर कानजी खिल-खिलाकर हँस पड़ा।

"चल-चल मज़ाक मत कर ! और कोई भले ही धोवे, पर तू तो कभी···"

"कभी तो क्या पूरे दो महीने धोये, और वह भी साबुन घिस-घिसकर।" कहकर कानजी फिर हँसने लगा।

दूर बैठकर लड़के को खिलाती कंकु से बोले बिना न रहा गया—"अच्छा, अब रहने दो ! यों मत बनाओ कानजी भाई ! शहर में भले ही रह आए हो, पर तुम्हारी आदत ज्यों-की-त्यों है !"

"सच कहता हूँ भाभी ! यदि झूठ बोलता होऊँ तो मुझे अपनी सौगन्ध है।"

"अच्छा, अब चुप रहो ! बिना बात सौगन्ध न खाओ ! वहाँ तुम चाहे जो-कुछ करते हो, पर यहाँ ऐसी बात भी न करना !"

"नहीं तो !" और कंकु को चुप देखकर बोला—"कोई औरत नहीं आयगी या और कोई बात है ?"

"तुम्हारे लिए इतनी बड़ी तो किसके घर में बेटी होगी जो आयगी, पर यदि कोई धरेजे में आने वाली होगी तो भी नहीं आयगी।"

कुठीले के पास बैठी नाथी तो यह सब मानती ही न थी। हीरा ने बात बदलने के इरादे से कहा—"तो अब तू किसी मिल में है, क्यों ?" यह पूछकर तनख्वाह और छुट्टियों के बारे में भी पूछा और कहा—"अब आया है तो दिवाली तक तो रहेगा न ?"

"नहीं रे, यह तो मैंने कहा कि चलो जरा सबसे मिल आऊँ। यही सोचकर बिना छुट्टी लिये चला आया हूँ।"

"तब तो पाँच-सात दिन में या···"और हीरा के बीच में ही कानजी बोला—"मेरा तो ख़याल है कि कल का दिन बिताकर चला जाऊँ।"

"तो तू यों यकायक क्यों तो आया और क्यों लौटा जा रहा है ? नाहक किराया खर्च किया। ऐसे ही आना था तो दिवाली पर ही आता !"

"आ गया बस!" कानजी बड़बड़ाया और खड़ा होते हुए बोला—"अच्छा चल, ज़रा भगतजी की ओर हो आयँ। वहाँ से गरबा में चलेंगे।"

लेकिन असल बात यह थी कि कानजी को हीरा से एकान्त में बातें करनी थीं। भगतजी के घर की ओर न जाकर "तुझसे कुछ बात पूछनी है हीरा !" कहकर घूरे की ओर मुड़ा। दोनों जने एक पत्थर पर बैठ गए। हीरा ने बात की शुरुआत करते हुए पूछा—"ऐसी क्या बात है, जो ठेठ घूरे पर ले आया है ?" और जिस बात की हीरा को आशंका थी, वही कानजी ने पूछी—"ऐं हीरा, क्या तू यह मानता है कि जीवी ने धूलिया को ज़हर दिया होगा ?"

"धूला ज़हर से मरा, यह तो तय ही है कानजी ! अब तू ही सोच ले ! घर का झगड़ा तो तुझे मालूम ही है। इसीसे हमें भी यही मानना पड़ता है।" और कुछ देर रुककर फिर कहा—"लेकिन अब गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फ़ायदा है कानज ! जो होना था, सो तो हो गया।"

"नहीं-नहीं, मैं तो सिर्फ जानकारी के लिए ही पूछ रहा हूँ। वैसे हमें इससे अब क्या लेना-देना है। मरेंगे साले। लेकिन इसमें अपने ऊपर भी बुराई आती है न ? लोग चाहे मुँह पर न कहें, पर पीछे तो कहते ही होंगे कि कानजी और हीरा ने मिलकर औरत तो करवा दी, पर इसमें तो उस बेचारे को उलटे जान से हाथ धोने पड़े।"

"कहते तो होंगे ही कानजी ! लेकिन अब इसका इलाज क्या है ? आज से यह सबक मिल गया कि अब तक हम जो लोगों के काम के लिए खड़े हो जाते थे सो अब न होंगे।" और विलाप करती हुई बुढ़िया की आवाज़ कान में पड़ने से या किसी अन्य कारण से बोला—"पर मुझे तो इस बेचारी बुढ़िया पर तरस आता है। जो कमाकर खिलाता था वही चल बसा। वह छुटका रह गया है। सो बड़ा होकर वही बुढ़िया की

काँवर भरेगा, यह किसने देखा है !''

कानजी ने जोर से साँस लेकर कहा—''तो वह औरत ही अब कौन-सा सुख पायगी ! यहाँ इस सास की गालियाँ सहती है तो वहाँ सौतेली माँ है। जहाँ भी जायगी, उसके हृदय में कसक तो बनी ही रहेगी न !'' कहकर कानजी ने एक सींक उठाई और दाँत कुरेदने लगा !

''फोड़ेंगे साले करम। जैसा करेंगे वैसा भरेंगे, इसमें हम क्या कर सकते हैं ? अच्छा चल उठ, गीत गाने चलें !'' कहकर हीरा खड़ा हुआ। उसे कानजी पर कुछ गुस्सा भी आया।

''तू जा, इतने में मैं ज़रा भगतजी के यहाँ हो आऊँ ?'' कहकर कानजी भगतजी के घर की ओर चला। वह चाहता था कि बुढ़िया की आवाज न सुने, पर उसने कान मे कोई ठेंठा थोड़े ही लगा रखा था जो उसकी आवाज सुनाई न देती।''

''हे भगवान् ! अब इस औरत से तो मैं बाज आई। राँड यहाँ से कहीं और जगह जा मरे तो मेरे घर का कलेस तो मिटे। इसकी माँ राँड भी इसे नहीं बुलाती। जहाँ बैठती है, गोद की तरह चिपककर रह जाती है। यह सब कैसे देखा जा सकता है ? राँड को खाना तो चाहिए तसला भरकर और काम करने के नाम मौत आती है।''

और जैसे यह काफी न हो, ऐसे जीवी के देवर की आवाज आई—''ए उठ, वह खाना रखा है। खा ले खाना हो तो नहीं तो, कहीं कुत्ता खा गया तो रह जायगी कल की तरह टापती। यह देखो, यह। जम होकर बैठी है। रानी जी उठ भी नहीं सकतीं।''

भगतजी के घर तक न आ गया होता तो कानजी शायद वापस ही लौट जाता। लेकिन अन्त मे भगतजी को साथ लेकर उठने पर ही उसको मुक्ति मिली। कुछ दूर जाने पर उसने भगतजी से पूछा—''ऐं भगतजी ! नित्य-प्रति ऐसा ही झगड़ा होता रहता है क्या इनका !''

''अरे, यह तो कुछ कम है भाई, नहीं तो कभी-कभी तो बेचारी को

मारते भी हैं।" कहकर भगतजी ने पूछा—"ऐसे में छुट्टी अच्छी मिल गई।"

"छुट्टी तो नहीं मिली, मैं ही चला आया हूँ भगतजी!" कहकर कानजी फिर किसी विचार में मग्न हो गया। कुछ देर बाद फिर बोला—"ऐं भगतजी! इन सब निःश्वासों का जिम्मेदार तो मैं ही ठहराया जाऊँगा न?"

"किसके निःश्वास?"

"इस औरत के।" और निःश्वास छोड़कर नीचा सिर किये हुए ही पूछा—"नासमझी में कर तो बैठी, पर अब उसके जीवन में रह ही क्या गया है? उसे तो···"

भगतजी ने कहा—"देख कानजी, दुनिया में ज्यादा गहराई में उतरना भी बेकार है। ऐसे-ऐसे दुखिया तो दुनिया में कितने ही पड़े हैं।"

कानजी खड़ा रहकर बीच में ही बोला—"यह तो ठीक है भगतजी! लेकिन उनके लिए हम जिम्मेदार नहीं हैं जबकि इसके लिए तो···"

"यह सब झूठ है। अगर सोचो नहीं, तो कोई किसी के लिए जिम्मेदार नहीं है, और सोचो तो सब···मनुष्य-मात्र सबके लिए जिम्मेदार है। इसलिए इस गोरखधन्धे में पड़ना ही नहीं चाहिए।" कहकर भगतजी चलने को हुए।

कानजी की आवाज कुछ ढीली पड़ गई—"ऐं भगतजी! तुम ऐसे समझदार आदमी होकर भी ऐसी बात कहते हो?" भगतजी को खड़ा रह जाना पड़ा। कानजी कहता जा रहा था—"क्या तुम्हें मालूम है भगतजी कि जीवी यहाँ किसके कारण आई? किसके?"

"मैं अकेला नहीं, सारा गाँव जानता है। लेकिन अब तुझे उससे करना क्या है और इतनी दया तो हममें भी है। जिस दिन उसकी सास उसे खाने को न देगी उस दिन हम उसे भूखों न मर जाने देंगे। धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा पगले! तू यों व्यर्थ दुःख का टोकरा सिर पर लिये क्यों घूमता रहता है?"

कानजी चाहता था कि इस समय भगतजी से स्पष्ट बातें कर ले, पर भगतजी ने चलते हुए उसे भी खींचा और कहा—"अच्छा चल, समय पर आया है तो दो-तीन नये गीत तो सुना !"

कानजी गया तो सही, पर वह गीत एक भी न सुना सका। जैसे उसे बैठना भी भारी पड़ रहा हो ऐसे भगतजी के पीछे खाट पर लम्बा हो गया। प्रेम से गीत गाने के लिए बुलाने आने वालों में से एक-दो युवकों को तो उसने झिड़क भी दिया—"मेरा पिंड छोड़ो ! गाना हो तो गाओ, नहीं तो जाने दो भाड़ में।"

"लेकिन इसमें बेचारे गरबा को क्यों भाड़ में डालते हो ?" हँसकर भगतजी बोले और आँख के इशारे से उन युवकों को दूर हटा दिया। वे मन में सोच रहे थे—'उसका दिमाग तो खराब हो ही गया है, साथ में इसका भी हाजा दीखता है !' इसके बाद भगतजी ने उससे नौकरी के बारे में और इधर-उधर के दूसरे सवाल पूछकर उसे बातों में लगाने का प्रयत्न किया। पूछा—"कितने दिन रहना है कानजी ! अभी तो दिवाली····"

"नहीं, हो सकता है कल ही चल दूँ।" कानजी मन में सोचता था कि शायद भगतजी को आश्चर्य होगा, शायद वे मना करेंगे। पर भगतजी उलटे खुश होकर कह रहे थे—"छुट्टी न हो तो चले ही जाना चाहिए। ऐसी ही बात है तो दिवाली पर दो दिन की छुट्टी लेकर आ जाना।"

कानजी बीच में ही बोला—"दिवाली पर ही क्या धरा है भगतजी ?"

समझदार के लिए तो यही ठीक है। घड़ी-घड़ी किराया खर्च करना और ऊपर से तनखा खोना।" भगतजी ने समर्थन किया।

लेकिन कानजी को भगतजी के ऊपर उलटा गुस्सा आया। कौन कह सकता है कि वह कुछ ऊँच-नीच निकल जाने के डर से ही वहाँ से न उठा हो। "मेरे सिर में दर्द है भगतजी ! मैं घर जाकर सोऊँगा।" कहकर चल दिया।

घर जाकर ओसारे में पड़ी खाट पर पड़ गया। पर कानजी को चैन न मिला। खाट को आँगन में खींच लाया और तारों को देखने लगा। लेकिन उसके पुराने साथी तारे भी उसे आनन्द न दे सके। भगतजी पर उसका गुस्सा अब भी कम नहीं हो रहा था प्रत्युत बढ़ता जा रहा था। भगतजी उसे व्यावहारिक ज्ञान से शून्य लग रहे थे। मन में सोचता था—'जो जन्म से ही सण्ड-मुसण्ड हो उसे क्या तो अपना और क्या पराया। कोई दुखी हो तो क्या, और कोई सुखी हो तो क्या? जब कोई मोह की बात ही न हो तो गीता का उपदेश मानकर मोह से अलग रहने में आश्चर्य ही क्या है?' यही नहीं, उसकी कल जाने की बात का भगतजी ने जो समर्थन किया उसमें तो उसे भगतजी का कुछ स्वार्थ भी दिखाई दिया—"ठीक है! यदि कानजी के पास दो पैसे होंगे तो किसी दिन उन्हींके काम आयँगे न?"

बीच में आए मकानों के उस ओर से आनन्द की तरंगें उछालता महासागर उमड़ रहा था और इस ओर कानजी आहें भरता पड़ा था। जैसे यकाकयक निश्चय कर रहा हो, ऐसे बैठा होता हुआ बड़बड़ाया—'कल चल ही देना चाहिए।' जब कि दूसरी ओर उसका मन पूछ रहा था—'तू आया क्यों था और जा क्यों रहा है?'

क्षण-भर के लिए तो उसने यह भी सोचा—'ला, इसे लेकर भाग चलूँ।' पर दूसरे ही क्षण उसे हँसी आ गई—"यदि तुझमें इतनी ही हिम्मत होती तो फिर और चाहिए क्या था? जो-कुछ करना था, सीधा-सादा था। उस समय तो कुछ नहीं किया। अब क्या होता है? बेचारी की क्या दशा हो गई है, यह तो देख!" उसकी नज़र के आगे वह रहट वाली जीवी आकर खड़ी हो गई। नुकीली आँखों में काजल, पुतलियों में सँपोले की चंचलता, कानों में झूलता सोने का कर्णफूल और रह-रहकर इशारा करती उसकी जंज़ीर, ठुमकेदार चाल, गेंदे-जैसे गाल और चुटकी लेते ही लोहू टपक पड़े ऐसा बदन। और उस समय का उसका उभरा हुआ वक्ष! मानो कसकर बाँधी हुई गजी की चोली में भी न समा

पा रहा हो।

और इसीके साथ सामने आई आज की जीवी। अस्थि-पंजर-जैसी सूरत, बैठे हुए गाल, निस्तेज आँखें, रेगिस्तान से उठती लू-जैसी नज़र और किसी की दौड़ाई दौड़ती हो, ऐसी चाल। वह कह उठा—'उसमें अब रहा ही क्या है ?'

और इसके बाद 'यह सब करने-कराने वाला तो मैं ही हूँ न ?' इस विचार के आने पर तो यदि उसका वश चलता तो वह इसी समय गाँव छोड़कर चल देता।

अन्त में कब सवेरा हो और कब इस झंझट से छूटूँ, इस उधेड़-बुन में सोने का प्रयत्न भी किया, पर नींद आने के बदले फिर प्रश्न उठा—'क्या एक बार मिलूँ भी नहीं ?' फिर सोचा—'क्या मुँह लेकर मिलने जाऊँ ? और यदि मिलूँ भी तो उससे क्या पूछूँगा और क्या कहूँगा ? उँहुँ, न मिलना ही ठीक है।' और इस प्रकार अन्त में बिना मिले जाने का ही निश्चय कर लिया। वास्तव में यदि पूछा जाय तो वह जीवी की ओर देख भी नहीं सकता था। फिर बात करना कैसे सम्भव था।

दूसरे दिन उसने भाई-भौजाई से आँखें फेरकर ही छुट्टी ली। हीरा को भी मिलने बुलाया था। बुलाना तो भगतजी को भी चाहता था, पर यह सोचकर कि लाओ मैं ही दो कदम चलूँ, वह स्वयं भगतजी से मिलने चल दिया। बड़ी देर तक भगतजी से बातें करने के बाद जब वह उनके साथ बाहर आया तो उसने जीवी को घर से निकलते देखा। या यों कहें कि जीवी को निकलते देखकर ही वह बाहर आया। दोनों नज़रें मिलते ही अलग हो गईं।

पिछली बार की तरह कुछ सुनने के लिए जीवी कान भी लगाती, पर उसे क्या ख़बर थी कि कानजी दो दिन में ही वापस चला जायगा। फिर कानजी भी इस बार चुप था।

इस बार अलग होने में कानजी को देर न लगी।

पिछली बार की अश्रुपूर्ण मुद्रा के स्थान पर इस बार की मुद्रा भी कुछ और थी। उदास कही जा सकती थी। इस बार उसे भाई-भौजाई के प्रति यदि कोई विशेष प्रेम न था तो भगतजी और हीरा से अलग होने में भी दुःख-जैसा लगता था। वास्तव में देखा जाय तो उसे इन सबसे एक प्रकार की विरक्ति-सी हो गई थी। सब सुखी थे, उनके लिए उनकी जाति थी, नाते-रिश्तेदार थे, घर था, ज़मीन-जायदाद थी, परन्तु कानजी को लगता था कि जैसे उसके लिए इनमें से कुछ नहीं है—अपना कहा जा सके ऐसा उसका कोई भी नहीं है। और-तो-और भगतजी-जैसा आदमी भी उसे छोड़कर उस लोगों की जमात में जा मिला था। सारी दुनिया ही उसे स्वार्थी लगती थी। वह इस स्वार्थमय वातावरण से जैसे हो वैसे जल्दी छूटना चाहता था। लेकिन इसके साथ ही उसके दिमाग़ में दूसरा विचार घुमड़ रहा था—'मैं तो इस प्रकार इससे छूट जाऊँगा, पर वह बेचारी कहाँ जायगी?' उसे गुस्सा भी आता था—'इससे तो भगवान् ने इसे मार डाला होता तो ही अच्छा था।'

कानजी भाई-भौजाई और भगतजी से तो अलग हुआ, पर हीरा अभी साथ था। कुछ दूर पीछे-पीछे चलने पर कानजी ने उससे कहा भी—"तू क्यों आ रहा है हीरा, जा वापिस लौट जा!"

"लेकिन मुझे तो यही चिन्ता है कि तू बिलकुल ऐसा क्यों हो गया है? दुतकारे कुत्ते की तरह अभी नौकरी पर जाता है तो अभी घर लौट आता है। आखिर तू ऐसा क्यों करता रहता है?"

कानजी की आँखें सजल हो आईं। कठिनाई से कह सका—"तू इस समय मुझसे कुछ मत पूछ हीरा!" और आँखों से बहती आँसू की धारा के साथ बोला—"जब तुम सब-कुछ जानते हो, तो फिर क्यों मुझसे आठों पहर पूछते रहते हो। सच पूछो तो तुम्हीं मेरे उस जनम के वैरी हो।" वह क्या कह रहा है, उसे इसका भी होश न था।

हीरा स्तब्ध रह गया—"यह तू क्या कह रहा है कानजी! हमने तेरे साथ क्या किया है, जो तू ऐसा कह रहा है?" कहकर कानजी की

ओर आँखें फाड़कर देखने लगा।

कानजी जैसे होश में न हो ऐसे कहने लगा—"नहीं-नहीं, मैं तुम्हें क्यों दोष दूँ। दोष तो मेरा अपना है। और कुछ होगा तो विधाता का होगा। तुमसे मैं क्यों कुछ कहूँ!"

हीरा को सन्देह तो था ही, पर निश्चय करने की दृष्टि से पूछा—"लेकिन विधाता ने तेरा क्या बिगाड़ा है?"

"कुछ नहीं। जो बिगाड़ना था सो तो बिगाड़ दिया। अब कहने से क्या और न कहने से क्या?" कहकर कानजी ने एक गहरी साँस ली। रुदन भी कम हो गया था।

"तो फिर यों कह! विलाप कर-करके खून का पानी—क्यों किये दे रहा है। ला, ज़रा तमाखू भरें!" कहकर हीरा खड़ा हो गया। नीचे बैठकर चिलम साफ़ करते हुए बोला—"होना था सो हो गया, अब उसके लिए पछताने से क्या होता है?"

कानजी ने कह ही डाला—"अब भी कुछ नहीं बिगड़ा हीरा! लेकिन तुम लोग ऐसे हो ही कहाँ, जो मानो। तेरी तो कोई बात नहीं, पर जब भगतजी-जैसा आदमी भी व्यावहारिक ज्ञान से शून्य निकल जाय तब क्या कहा जाय?" और होठ चबाता हुआ खड़ा रहा।

"न जाने तू क्या पहेली बुझाता है? कुछ साफ़ बात करे तब न!"

"मरने दे, चल! ला, दो दम लगा लूँ!" और चिलम में दो दम लगाने के बाद उसे हीरा को देता हुआ बोला—"अच्छा, आ अब भेंट लें!"

भेंटने के बाद हीरा ने आँखें पोंछते हुए कहा—"इन सब बेकार की बातों को याद कर-करके व्यर्थ विलाप मत किया करना। चिट्ठी लिखना। देख, भूल मत जाना!"

लम्बी साँस लेते हुए कानजी ने कहा—"मनुष्य का क्या ठिकाना है हीरा! एक दिन सब-कुछ भूल जाना है। लेकिन क्या तुझे वे दोहे याद हैं।" कहकर बोला—

"भूलेंगे हम एक दिन निज पीहर की सैल।
भूलेंगे वाके संगही, ननसारउ की गैल॥
भूलेंगे माँ धरनि के, ये अनगिन उपकार।
भूलेंगे करिवी स्वयं, अपनी सार-सँभार॥
भूलेंगे काउ दुःखी अरु, भागहीन की याद।
भूलेंगे मादक मधुर प्रेम-नेम संवाद॥
पर पलभर को हम न यह भूलेंगे हे मीत।
तन मन दै हमने करी, कबहुँ कहु ते प्रीत॥"

"ऐसा है हीरा!" कहकर इस डर से कि कहीं फिर आँसू न टपक पड़ें, आगे बढ़ता हुआ बोला—"तो ठीक है। कभी याद करना, और क्या? और भगतजी से भी कहना-कहना कि उन्हें याद करते-करते ही गया है।" कहकर कुछ पीछे मुड़कर देखा। कहना नहीं चाहता था पर कहे बिना न रहा गया—"हीरा, ज़रा उस अभागिनी की खबर लेते रहना!" लेकिन इससे अधिक कुछ न कह पाने के कारण पीठ फेरकर चल दिया।

नदी पर इधर-उधर दृष्टि डालता और होठ चबाता हुआ आगे बढ़ा। किनारे पर चढ़ते हुए उस कणाजी[1] पर एक नज़र डालकर देखा। जैसे ही पीठ फेरी कि भगतजी को ढाल से उतरते देखा। कन्धे पर कपड़े देखकर सोचा—'धोने आये होंगे।' और खड़े होने की इच्छा करने वाले मन को धकेलते हुए कहा—'चल, अभी तो मिले हैं। बार-बार क्या मिलना? परन्तु इतने में ही भगतजी की आवाज कान में पड़ी—कानजी जरा हटना!'

कानजी ठहर गया।

पास आते ही भगतजी ने कहना आरम्भ किया—"अच्छा हुआ जो तू मिल गया। नहीं तो तुझसे अलग होकर घर तो गया, पर मेरे जी ने मुझे चैन न लेने दिया।" कहकर कानजी की ओर देखा और नरम

१. वृक्ष विशेष।

आवाज में कहा—"कानजी, मैं तेरे मन की बात, तेरा दुःख सब-कुछ जानता हूँ लेकिन यह सब ऐसा विचित्र है! खैर जाने दे इस बात को। लेकिन मुझे तुझसे एक ही बात कहनी है और वह यह कि धूलिया के जहर से मरने की बात तो सच है पर बेचारी उस छोरी ने वह रोटी अपने लिए बनाई थी परन्तु···"

कानजी बीच मे ही बोला—"यह तो मैं जानता था भगतजी कि इसने गुस्से में आकर ही धूलिया को जहर दिया होगा। बाकी····"

"लेकिन उसने तो गुस्से मे आकर भी नहीं दिया।" कहकर भगतजी ने संक्षेप में सारा किस्सा कह सुनाया। कहा—"लेकिन भाई उसके दिन पूरे हो चुके थे इसलिए उसका अन्त इस प्रकार हुआ।" और कानजी की फटी हुई आँखो में भावों का तूफ़ान-सा देखते हुए बोले—"इसमें किसी का दोष नहीं कानजी! बेचारी उस छोरी को व्यर्थ दोष दिया जाता है, लेकिन इसका उपाय भी क्या है? एक आदमी को समझाया जा सकता है पर सारे गाँव का मुँह कौन बन्द कर सकता है।" कहकर कुछ रुके और कानजी को "ठीक है" कहकर चुप होता देखकर बोले—"बस मुझे तुझसे यही कहना था।" और बुत बने बैठे कानजी की पीठ पर हाथ रखते हुए कहा—"अच्छा, अब जा, देर न कर!" और कहकर उसे रास्ते पर डाल दिया।

"बहुत अच्छा किया भगतजी! आखिरकार तुमने मुझसे इतनी सच्ची बात कही तो!" और भगतजी की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि डालता हुआ बोला—"लेकिन भगतजी!"

"अच्छा, अब यदि तू फिर बातों में लगा तो व्यर्थ देर हो जायगी। मैं भी बैलों को खेत की मेंड़ पर बाँधकर आया हूँ। किसी दूसरे के खेत में घुस गए तो···"

कानजी ने भगतजी की ओर फिर दयनीय दृष्टि से देखा। भगतजी ने दूर खेतों की ओर मुँह फेरा। एक भारी साँस लेकर पीठ फेरता हुआ कानजी यही कह सका—

"अच्छा भगतजी ! चलता हूँ।" और सिर झुकाकर चल दिया।

भगतजी बड़ी देर तक उसकी पीठ को देखते रहे। इसके बाद एक भारी साँस ली और बड़बड़ाये—'पता नहीं, बुद्धि और हृदय को एकत्र करके भगवान् ने आदमी का भला किया है या बुरा ?'

जब कि रास्ता चलने के आदी पैरों के सहारे बढ़ते हुए कानजी के मन की दशा विलक्षण थी। उसके मन में एक ही विचार था—'क्या वह ज़हर खाकर मर जाती ? इस प्रकार अपने जीवन का अन्त कर लेती ? वह भी अपने-आप ?' कानजी का मुँह फक हो गया। वह विवश-सा हो गया। एक भारी साँस लेकर बड़बड़ाया—'यदि ऐसा हो जाता तो मैं दुनिया को क्या मुँह दिखाता ! तब तो मेरे मुँह देखने वाले को ही पाप लगता।'

कानजी की वापस लौटने, जीवी से मिलकर माफी माँगने और उसके बाद उसे अपने साथ ले चलने की इच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठी। परन्तु सम्मान के साथ विदा होकर आने वाला कानजी वापस न लौट सका। और इसके बाद तो उसने इस डर से कि कहीं लौट ही न पड़े, अपनी चाल भी तेज़ कर दी। भगतजी पर उसे गुस्सा भी आया—"भले आदमी, मुझे पहले ही बताना था न ?"

खून निकल आवे, इतने ज़ोर से होठ चबाते हुए कानजी ने स्वगत कहा—'अरी पगली ! मेरी तो कोई बात नहीं पर तू तो मुझसे मिलती।' लेकिन अन्त में उसे अपने ऊपर ही हँसी आई—'लेकिन तू अपनी ही बात कह न ! इतना किराया खर्च करके तू यहाँ आया ही क्यों था।'

इक्कीसवाँ प्रकरण

●

मिला भी नहीं

परन्तु दूसरी ओर जीवी की आत्मा—उसकी अन्तड़ियाँ क्या कह रही थीं, यह तो यदि जीवी कहने बैठती तो भी न कह पाती। जब उसने कानजी को भगतजी के यहाँ से निकलता देखा था तब उसे क्या खबर थी कि वह परदेस जा रहा है। यह वह मान ही कैसे सकती थी कि वह उससे मिले बिना—उसके कान में बात डाले बिना जा सकता है। यह तो जब नाथी ने पानी भरकर लौटते हुए पूछा—"क्या काना भाई, तुमसे मिले जीवी भाभी ?" और जीवा ने 'नहीं' कहकर जवाब दिया, तब उसे आश्चर्य हुआ। उसने फिर कहा—"क्या तुमसे मिले बिना ही चले गए ? नहीं-नहीं झूठ क्यों बोलती हो ?"

जीवी एकदम रुक गई। फटी हुई आँखों से पूछा—"क्या गए ?" और नाथी के "तो क्या मैं झूठ बोलती हूँ ?" कहते-कहते तो उसके मुँह पर अनेक भाव आ गए। सिर पर रखी जेहर जैसे ऊपर उड़ गई हो। जैसे हृदय की हूकें तालु की राह निकलने के लिए विकल हों, ऐसे उसका दिमाग़ उड़-उड़ हो रहा था। उसकी व्याकुल दृष्टि को देखकर तो नाथी को कुछ डर-सा भी लगा। कहा—"चलो न, यों पागलों की तरह क्या करती हो ?" जीवी ने पैर तो उठाया, पर बेहोशी में ही। उसने

'क्या वे सचमुच गए ?' का प्रश्न कितनी बार पूछा, इसकी गिनती तो नाथी ने भी नहीं की थी पर उससे पीछा छुड़ाना तो उसे (नाथी को) भी कठिन हो गया।

जीवी को लगा, जैसे आकाश-मण्डल के नीचे इस समय वह अकेली पड़ गई है। आज तक वह एक ही कारण से जीती थी। कानजी से अपने हृदय की बात—"मैंने ज़हर नहीं दिया, समझे !"— कहने भर को। कानजी को आया हुआ देखकर तो वह कुछ खुश भी हुई थी। हिम्मत भी आ गई थी। लेकिन जब यह खबर सुनी, तब तो उसे यह भी न सूझ पड़ा कि वह कहाँ जाय और क्या करे ?

जीवी ने जेहर उतारी और बाहर आई। कपड़े सुखाकर बैठने को उद्यत भगतजी पर उसकी नज़र पड़ी। जीवी सीधी भगतजी के पास गई। खम्भे की आड़ में खड़े होकर पूछा—"ऐं भगत काका ! तुम्हारे साथी गये क्या ?"

इस आवाज में ही कुछ ऐसा था कि वह भगतजी तो क्या, अच्छे-अच्छे ऋषि-मुनियों तक से न सुनी जाती। एक बार तो उनका खिझाने का मन हुआ। लेकिन तत्क्षण एक भारी साँस ली और जीभ को रोक लिया। शान्ति से ही बोले—"हाँ, गया।" भगतजी को डर था कि या तो यह छोरी रो उठेगी या बेहोश हो जायगी, पर उनका यह डर झूठा निकला।

वापिस लौटती हुई जीवी की आह सुनाई दी और साथ ही बड़बड़ाहट भी—"मुझसे मिले तक नहीं।" घर पहुँचते-पहुँचते तो जीवी के सातों करम हो गए। उसका ज़ोर से धड़कता कलेजा एक ही बात पूछ रहा था—"मुझसे मिले तक नहीं !" जैसे पैरों के नीचे से जमीन खिसक रही हो, आकाश का घेरा चकरघिन्नी खा रहा हो। कान सुन्न हो गए। क्षण-भर तो जीवी को यह भान रहा कि मैं कहाँ हूँ ? लेकिन दूसरे ही क्षण वह स्वयं कहाँ है ? कौन है ? आदि में से कुछ भी शेष न रहा था।

अब यदि पृथ्वी खिसके तो क्या, और न खिसके तो क्या ? अब चाहे आकाश भी हज़ार-गुना घूमे। और अब तो यदि कानजी भी उसे जन्म-भर न मिले तो भी कुछ नहीं। अब तो वह निरानन्द दशा में पहुँच चुकी थी।

संसार में सूरज जैसे उगता है वैसे ही उगता है ! और रोज की तरह छिप जाता है। वे ही पेड़, वही नदी और वे ही आकाश-मण्डल के तारे। लोगों का काम भी ज्यों-का-त्यों है। वही बातें और वही उमंगें। कुछ भी नया नहीं। जब कि जीवी की दशा यह है कि अभी यदि उगता सूरज छिपता जान पड़ता है तो अभी ऐसे देखने लगती है, जैसे ठीक दोपहरी में तारे देख रही हो। बोलने लगती है तो ब्रह्मज्ञानी की भाँति अटपटी बातें करने लगती है। कभी ऐसे मौन होकर बैठी रहती है जैसे क्षितिज के किसी रहस्य का उद्‌घाटन कर रही हो। लोग कहते हैं—'अरे भाई ! यह तो धूलिया ही भूत होकर लगा है।' तो कोई जैसे रेशमा से पता लगाकर लाया हो, ऐसे कहता है— 'अरे, सब झूट है ! धूलिया ने तो अपने जीते जी ही इसे मूठ मरवाई थी। विश्वास न हो तो पूछ आओ रेशमा से। एक बार उसके पास मूठ मरवाने गया था।'

लोग सोच में पड़ जाते हैं—"तब तो यह ठीक है। इस मूठ की धुन में ही जीवी ने यदि उसे ज़हर दे दिया हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं।" कहकर सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं।

भटकती हुई जीवी कभी-कभी खेतों में पहुँच जाती है। लोग उससे पूछते भी हैं—"ऐं री, तूने अपने मालिक को ज़हर क्यों दिया ?"

कभी-कभी जीवी मालिक शब्द को ही पकड़ लेती है। बोलने लगती है—"मेरा मालिक ? वह तो परदेस कमाने गया है ?" फिर सलज्ज हँसी के साथ छोटे बच्चे की तरह कहती है—"मेरे लिए नये कपड़े लायगा। सच्ची चूड़ी लाने को भी कहा है।" तो कभी गालियाँ भी देने लगती है—"छोड़ो न उस कलमुँहे की बात। नाशपीटा मुझसे मिला तक नहीं। मुझसे मिले, तभी उसकी बात है न ?" और जब

ऐसी धुन में होती है तब किसी राहगीर से विनती भी करने लगती है—"उनसे कहना कि जीवी तुम्हें बहुत-बहुत याद करती है। तुम नौकरी पर जा रहे हो न? मुझे भी ले चलो? मुझे उनसे मिलना है।" और वह राहगीर "हट, पगली!" कहकर अक्सर मारने भी लगता है। यदि मारता नहीं तो धकेलनी तो पड़ती ही है।

रात को कभी यदि बुढ़िया के ओसारे में ही गुड़-मुड़ हो जाती है तो कभी किसी दयालु के यहाँ थोड़ी-सी रोटी खाकर उसीके ओसारे के कोने में सो रहती है। कपड़े फट गए हैं। सिर के बिखरे हुए और धूलि-धूसरित बाल बिलकुल सफेद हो गए हैं। नहाई तो न जाने कब की होगी? अनेक बार तो गाँव के लड़के पीछे पड़कर सताते हैं—"अरे, पगली आई! अरे, पगली आई!"

यह सब देखकर भगतजी के होठों पर एकाध आह आती है। कहते हैं—"हे भगवान्, एक दिन जिसकी नज़र पड़ने पर अच्छे-अच्छे युवक अपने को धन्य समझते थे और जिससे बातें करने में आनन्द का अनुभव करते थे उसीकी आज यह दशा! कहाँ जन्मी, कहाँ दिल लगाया, कहाँ जाकर ब्याही और आज कहाँ जाकर पछाड़ी है।" और जैसे अपनी धारणा बदल रहे हों ऐसे मन में कहने लगे—"नहीं-नहीं भगवान्! यह ठीक है कि तूने आदमी बनाया, पर आख़िरी हाथ तूने औरत का दिल बनाकर ही धोये हैं।"

दिवाली के पाँचेक दिन हैं। कानजी की ओर से कोई जवाब न मिलने पर बड़े भाई भगतजी से फिर चिट्ठी लिखवाने आए हैं—"भगतजी! कानजी की कोई चिट्ठी नहीं आई है और हमने उसकी सगाई के लिए धनतेरस का दिन तय कर दिया है। तुम साफ़-साफ़ लिख दो कि भूरा पटेल की लड़की रूपी के साथ तेरी सगाई हो रही है इसलिए फौरन चला आ! छिपाकर क्यों रखा जाय?"

यही नहीं हीरा भी भगतजी के कान में कुछ कहकर अपनी सम्मति देता है—"और साथ-साथ यह भी लिख दो कि जीवी पागल हो गई है,

जिससे यदि उसके मन में कुछ हो तो वह भी निकल जाय।"

बेचारे भगतजी को इस समय कुछ सूझ ही न पड़ता था। कभी इन दोनों का कहना अच्छा लगता, तो कभी बुरा। इसीलिए तो उन्होंने पहले की तरह सब गोल-मोल रखकर कानजी को सिर्फ यही लिखा था—"तुझसे काम है इसलिए जल्दी आ जा!" लेकिन अपनी इस तरकीब को कारगर होता न देखकर इस बार उन्होंने "तो जो-कुछ होना हो सो हो" कहकर इन लोगों के कहने के अनुसार ही लिख डाला।

धनतेरस बीती और दिवाली भी आ गई। लेकिन न तो कानजी आया और न उसकी चिट्ठी। उलटा नाना कटारा यह खबर लाया था कि कानजी दिवाली पर घर नहीं आयगा। बड़े भाई, भगतजी और हीरा ने उससे अनेकानेक प्रश्न पूछे, पर वह सबको संक्षिप्त और एक-से ही जवाब देता रहा। कई बार तो कानजी के बारे में बात चलते ही उठकर कर चल देता।

दिवाली के दिन हीरा के यहाँ खाना खाने के बाद भगतजी अपने ओसारे में आकर बैठे थे कि उनके कान में 'पगली है! पगली है!' चिल्लाते बच्चों और पटाखों की आवाज़ें आईं। भगतजी तुरन्त उठे और लम्बे-लम्बे डग भरते हुए उन बच्चों के टोल में जा पहुँचे। बच्चों को धमकाकर दूर हटाया और जीवी को लेकर हीरा के यहाँ आये। कंकु से कहकर उसे खाने बिठाया! बाहर आते हुए कहा—"कंकु, ज़रा इस पगली की ख़बर लेती रहना! और कुछ नहीं, बस किसी दिन अगर रोटी जल्दी हो जायँ और यह दिखाई दे जाय तो बुलाकर एक टुकड़ा रोटी दे देना। इसके लिए यही बहुत है।" कहकर बाहर निकलते हुए जीवी पर फिर एक नज़र डाली। उसकी दशा देखकर भगतजी ने एक भारी निःश्वास छोड़ा।

बाईसवाँ प्रकरण

●

एक प्राण, दो शरीर

कार्तिकी पूर्णिमा दिन-दिन निकट आती जा रही थी। बारह-बारह महीने के बाद जागने वाले बावजी देव[1] के नगाड़ों की गड़गड़ाहट सुनकर ही जैसे आस-पास रहने वाले लोग काम से निबटने के लिए जल्दी कर रहे थे। दो दिन पहले तो यह भी तय हो गया था कि गाँव से कौन-कौन जायगा और क्या-क्या पहन-ओढ़कर जायगा। पाप का विचार करने वाले पाप धोने जा रहे थे, तो पाप का विचार न करने वाले उन्हें बढ़ाने भी जा रहे थे। लेकिन अन्त में होता यह कि पाप धोने जाने वालों के पाप तो बढ़ जाते और बढ़ाने आने वालो के अनायास कम हो जाते। कुछ ऐसे थे जो नागधारा में नहा-खेलकर अलाय-बलाय से मुक्त होने जाते थे। अर्थ-लाभ के लिए जाने वाले भी कम न थे।

'पृथ्वी पर जितने धाम हैं वे सब अपने ही अन्दर हैं' की मान्यता वाले भगतजी भी इस पूर्णिमा के मेले में बिला नागा जाते। गाँव के लोग तो दो-तीन दिन में ही लौट आते, पर वे आठ-दस दिन के लिए डेरा जमाते। इस वर्ष भी उनकी मण्डली बहुत बड़ी थी। हीरा और मनारे तो थे ही, और भी दस-पन्द्रह आदमी—अधेड़ और युवक—जाने

१. देवता का नाम।

को तैयार हो गए थे।

नाना ने भी कार्तिक का मेला करके सीधे जाने का निश्चय किया था। लोग उससे पूछते भी थे—"इस साल तो तू कई बार आया है नाना! उसमें भी ये बीस दिन की छुट्टियाँ तो तूने एक ही फेरे में बिता दीं।"

नाना हँसकर जवाब देता—"चाहे जो-कुछ हो। भाइयों के साथ जितने दिन बिताने को मिलें उतना अच्छा। फिर यदि छुट्टियाँ मिलती हों तो क्यों न ली जायँ।"

"अच्छा भाई, अच्छा!" कहकर लोग नाना की होशियारी की तारीफ़ करते और आपस में कहते—"सच है भाई! परदेस का मामला है। न जाने कौन जिया, कौन मरा। यह तो है ही।"

दिन छिपने से पहले पहुँचने का विचार करके गाँव की मण्डली तेरस को बड़े सवेरे ही रवाना हो चुकी थी। लेकिन उस मण्डली मे से नाना ने "अरे, बूढ़ों के साथ रेंगते हुए हमसे कैसे चला जायगा? कल मुर्ग़ा बोलते ही उठेंगे और दोपहर होते-होते ठेठ बाबजी जा पहुँचेंगे। साथ ही एक दिन घर का काम भी कर लेंगे।" ऐसा कहकर अपने साथ ले लिया।

जैसे एकदम सूझा हो ऐसे नाना ने एक-दो जगह कहा—"बेचारी इस जीवी को कोई बाबजी ले ही नहीं गया? नागधारा में नहाने का महातम तो इतना ज्यादा है कि यह पागल बनाने वाला देव भी दुम दबाकर भाग जाय।"

तभी सामने वाला आदमी कह उठता—"अरे, हाँ भाई, बेचारी को ले गए होते तो बड़ा पुन्न होता।" और मुखिया ने तो उसे नाना के ही गले बाँध दिया—"अभी तू तो जायगा ही नाना? दो-चार जने तुम बराबर के ही हो तो ले जाओ न बेचारी को। कहो तो इसके खाने के लिए सामान-सट्टा मैं अपनी तरफ़ से कर दूँ! मुझे तो विसवास है कि ठीक हो जायगी। समझे नाना! मेरी बूआ ऐसी ही हो गई थी। नाग-

धारा में नहाई कि रुपये में आठ आना फरक पड़ गया। इसलिए इतना तो करना ही चाहिए! फरक पड़े तो इसकी तकदीर और न पड़े तो गाँव वालों के साथ वापस भेज देना।"

नाना ने स्वीकार कर लिया—"अच्छा मुखिया काका! पर रात को इसे अपने यहाँ सुला लेना। नहीं तो मुर्ग़ा बोलने पर कहाँ ढूँढ़ने जाऊँगा! एक बार गाँव से बाहर निकल जाय, फिर तो हम इसे समझा-बुझाकर ले जायँगे।"

"अरे, यह काम हमारा!" कहकर मुहल्ले के लोगों ने भी पुण्य के काम में हाथ बटाया।

मुर्ग़ा बोलते ही चार युवक जीवी को आगे करके मेले को रवाना हो गए।

नाना रास्ता चलती हुई जीवी को बातों में लगाने का प्रयत्न करता रहा। कभी वह टेढ़े चलने की हठ पकड़ बैठती तो कभी लड़ती भी—"नाशपीटे मुझे शहर ले जा रहे हैं। ऐसा करके मुझे धोखा दे रहे हैं। क्यों?" कहकर पत्थर उठाने को होती, पर नाना उसे फिर समझाता—"अरे नहीं जीवी भाभी, हम तो तुझे तेरे पीहर ले जा रहे हैं।" इस पर जीवी या तो खुश हो उठती या और ज्यादा गुस्सा हो जाती। परन्तु इसी बीच खाने को देने पर चुप हो जाती। रोटी का कौर चबाते-चबाते कहती—"अरे, तुम मुझे ले तो जा रहे हो, पर क्या तुम उन्हें पहचानते हो? तुम्हें देखेंगे तो मार डालेंगे, समझे! सच कहती हूँ, भाग जाओ!"

नाना के अलावा बाकी सब हँसने लगते। पूछते भी—"तुम्हारे 'वे' कहाँ हैं? बेचारे को जहर देकर मार तो डाला!"

और जहर का नाम सुनते ही एक बार जीवी का पारा चढ़ गया—"ज़हर तो तेरी माँ ने दिया था।" तो बाद में रोने भी लगी—"हाय हाय, उन्हें जहर दिया।" और इस प्रकार कभी रास्ते चलते यात्रियों को रुलाती और कभी पेट पकड़कर हँसाती जीवी दिन छिपते-छिपते बावजी के निकट आ पहुँची।

केवल पहाड़ की तराई में स्थित भगवान् के मन्दिर का आँगन ही नहीं वरन् समस्त सीमा ही आदमियों से भरपूर थी। पच्चीस-तीस तो बाज़ार थे। इन बाज़ारों में खाली माल ही हो ऐसी बात नहीं थी। माल बेचने वाले बड़े-बड़े शहरों के नये व्यापारी भी थे। हज़ारों आदमी जापानी खिलौनों की भाँति इन दुकानदारों और इनके माल को देख रहे थे। फिर पैसे-पैसे में 'जर्मन का राजा देखो' के बदले पर्दे पर तूफ़ानी समुद्र से लेकर चिलम का धुआँ दिखाने वाले सिनेमा-गृह पर तो दिन-दहाड़े लूट मची हुई थी। रामलीला और भवाई के बदले 'वीणा-वेली'[1] का खेल होने वाला था रात को आठ बजे; जबकि आदमी घुस बैठे थे शाम के चार बजे से ही। सबसे महँगा दो रुपये वाला टिकट भी बन्द था।

सवेरे से चक्कर खाते हुए पन्द्रह रहट रात होने पर भी चल रहे थे। उनमें भी उस आसमान से बातें करते बड़े रहट के पास तो लोगों की भारी भीड़ जमा थी। इसके अलावा उस शेर से बकरी बना देने वाले (इलम से ही होगा) सरकस के ऊपर तने हुए तम्बू के द्वार तो आदमियों के बीच में घुसकर ही देखे जा सकते थे।

फिर 'बातें करता धड़' और 'चलता हुआ सिर' आदि की चमत्कारी रावटियाँ भी आदमियों से उमड़ रही थीं। मिठाई की दूकान पर चिवड़ा और होटल आदि स्थानों पर माल तो भाग्य से ही मिल पाता था। नहीं तो धक्के खाकर पीछे ही लौटना पड़ता था। और बाबजी के विशाल दरवाज़े का तो कहना ही क्या? यदि पानी की दुहरी बाढ़ देखी हो तो वहाँ की भीड़ का अनुमान लगाया जा सकता है।

लेकिन यह तो मुख्य बाज़ार की बात हुई। वहाँ से चौगुने आदमी घूम रहे थे बाहरी हिस्से में। हर पहाड़ पर कुछ-न-कुछ तो था ही। और कुछ नहीं तो कम-से-कम किसी साधु की समाधि तो थी ही। यदि वहाँ चक्कर न लगाया जाय तो बाबजी के दर्शन करना ही व्यर्थ हो जाय।

१. प्राचीन शृंगारी नाटक।

लख-चौरासी के चक्कर से बचना हो तो वहाँ जाने पर ही मुक्ति थी। साधारण दिनों में जिन पहाड़ों पर गोंद निकालते भीलों के अलावा और कोई आदमी शायद ही दिखाई देता था, आज उनके पत्थर-पत्थर पर आदमी थे। इसके अतिरिक्त उस ओर की तराई में तो रावटी, गाड़ी, घोड़े, गधे आदि के ऐसे पड़ाव पड़े थे जैसे कोई गाँव ही बस गया हो। दूसरी ओर बेचने को लाये गए हज़ारों बैल समुद्र के उफनते हुए झाग की भाँति मस्त दिखाई देते थे।

सन्ध्या होने पर भी मोटरें आदमियों को उतारती ही जाती थीं।

यहाँ तक तो नाना जीवी को ले आया था, पर वास्तविक सावधानी तो अभी रखनी थी। बड़ी मिहनत से गाँव की मण्डली को खोज निकाला गया। खिलखिलाकर हँसती हुई जीवी पर नज़र पड़ते ही भगतजी बोल उठे—"अरे इस पगली को यहाँ कौन लाया?"

जैसे गाँव के लोगों को गिनकर देख रहा हो ऐसे सब पर नज़र डालकर ऊब के साथ कहा—"अरे, क्या करें भगत काका! बहुत मना किया, पर मुखिया ने कहा कि ले आओ, नागधारा में नहायगी तो बावजी ठीक कर देंगे।"

"अरे, करा बावजी ने ठीक! बावजी को ठीक करनी होती तो पागल ही क्यों करते?" भगतजी ने खीझकर कहा।

नाना ने फिर इधर-उधर दृष्टि डाली तो भगतजी की आवाज़ सुनाई दी—"अरे, तुम्हारे खाने का क्या होगा?"

नाना ने साथियों से पूछे बिना ही कह दिया—"हमारे पास तो रोटियाँ थीं। अभी-अभी दिन छिपने के वक्त ही खाई हैं। कुछ खाने की ज़रूरत नहीं।" और फिर दूर से आने वाली एक मोटर की ओर देखने लगा।

एक तो सर्दी और ऊपर से आस-पास पानी-भरे झरने, इसलिए ठण्ड की अच्छी रमक थी। लेकिन यहाँ ओढ़ने को कहाँ से आवे! सबको अपने एक-एक जोड़ी फालतू कपड़ों में ही ओढ़ने-बिछाने का

समावेश करना था। परन्तु जीवी के पास तो यह भी न था। अन्त में भगतजी ने ही दुखी होकर उसे अपनी धोती उढ़ाई और अलाव के पास सुला दिया। दो-चार उलटी-सीधी सुनाकर बक-बक करने से भी रोक दिया। नाना को भी कुछ सुनना पड़ा, लेकिन बदले में जीवी का भार कम हुआ, यही उसके लिए बहुत था।

चारों ओर चाँदनी रात हँस रही थी। सिनेमा और नाटकों को भी एक ओर रख देने वाली मृदंग की मंडलियाँ जोरों पर थीं तो आकाश के गुम्बद के नीचे पालथी मारे बैठे भक्त का कंठ धरती पर बैठे लोगों को तन्मय बनाकर अदृश्य लोक की झाँकी करा रहा था—

"मेरी धरती से कहना सलाम
हम तो पंछी हैं ऊँचे आकाश के···"

भगतजी ने सारी रात जीवी की सँभाल और चिन्ता में बिताई। सवेरा होते ही गाँव के दो-तीन रोगियों के साथ जीवी को भी नागधारा पर ले जाया गया। इन सब ढकोसलों को न मानने वाले भगतजी भी चुपचाप आगे हो लिये थे। लेकिन नाना सबके पीछे हो था। उसकी आँखों से लगता था कि उसने भी रात्रि-जागरण किया है। उसके कान तो अब भी मोटरों की आवाजों में लगे हुए थे। मुड़-मुड़कर पीछे भी देखता था।

नागधारा में हज़ारों आदमी पड़े थे। कोई खेल रहा था तो कोई पानी छिड़ककर दूसरों को खिला रहा था। एक तो कड़ाके की ठण्ड, और दूसरे तनाव की भाँति इकट्ठा हुआ नदी का शीतल पानी। ऊपर से इधर-उधर से अङ्ग बेधती छींटें पड़तीं। तब भला आदमी को भूत न चढ़ेगा तो और क्या होगा। लेकिन जीवी ने तो नदी में उतरने से ही इन्कार कर दिया। किनारे की कीचड़ में ही बैठ गई। परन्तु लोग कोई ऐसे ही थोड़े छोड़ने वाले थे। एक ने तो पास वाले एक जने की देखादेखी जीवी को एक लात भी लगा दी। किनारे पर खड़े भगतजी कुछ कहने ही वाले थे कि पीछे से आवाज आई—"अरे ओ मूरख!" देखा तो लाल-

लाल आँखें निकालता कानजी आ रहा था।

"अच्छा कर रहे हो भगतजी!" कहता हुआ जीवी की ओर चला। वे युवक ऐसे अलग हट गए जैसे कानजी से कन्नी काटते हों। कानजी ने जीवी को बाँह पकड़कर उठाया। क्षण-भर उसके मुँह की ओर देखता रहा। जीवी की निश्चल आँखें देखकर उसका एक भारी निश्वास निकल गया। उसे किनारे पर ले आया। गाल पर से मिट्टी हटाते हुए 'तो दूसरों की मदद लूँगा' कहकर सामने खड़ी काली से बोला—"काली! अपने कपड़े इसे बदलवा दे जरा!" कहकर उसने जीवी को काली के हवाले किया। भगतजी को छोड़कर बाकी के पच्चीसेक आदमी कानजी का जीवी के प्रति अपनी प्यारी पत्नी-जैसा व्यवहार देखकर दंग रह गए। लेकिन कानजी का व्यवहार नितान्त स्वाभाविक था। भगतजी की ओर घूमते हुए पूछा—"कब के आये हो भगतजी! ओहो, हीरा भी आया है!"

'इन सब में अपना तो जैसे कोई मूल्य ही न हो' सोचता हुआ नाना बोल उठा—"अरे, वाह काना भाई! मैं तो कल रात से तुम्हारी राह देख रहा हूँ।"

"क्या करूँ भाई? मोटर में जगह मिले तब न!" कहकर कानजी ने नाना की ओर देखते हुए बेबसी की हँसी हँसी। और सामने से आती मोटर पर नजर पड़ते ही काली से कहा—"काली तू जरा जल्दी कर!"

हीरा बोला—"लेकिन तू अचानक आया कहाँ से? न चिट्ठी का जवाब देता है और न बुलाने से आता है।" कहकर हीरा ने छोटे बच्चे को फुसलाने के ढंग से आगे कहा—"तू बिलकुल ऐसा क्यों हो गया है कानजी!"

"लेकिन मैं आया तो हूँ। हम सब मिल लिये। इससे ज्यादा और क्या चाहिए?" कहकर कानजी ने बगल में कपड़ा पहनाती काली की ओर फिर देखा। नाना की ओर देखते हुए पूछा—"क्यों नाना, अभी चलना है कि कल?"

भगतजी को सन्देह तो तभी हो गया था जब कि कल जीवी को नाना के साथ देखा था। कानजी की ओर देखते हुए पूछा—"क्या तू आज ही वापस जा रहा है!"

"हाँ भगतजी! वापस तो मुझे कल रात ही चला जाना था, पर साली मोटर ने ही दगा दे दी। जगह ही न मिले तो फिर आया कैसे जाय?"

"लेकिन तू यों अचानक क्यों आया और क्यों जा रहा है? तेरी बात कुछ समझ में नहीं आती कानजी!" कहकर भगतजी उदास मुद्रा से देखने लगे। लेकिन अब यह सब देखने-सुनने की कानजी को ज्यादा फुरसत न थी। हँसकर बोला—"तुम तो ऐसे हो भगतजी! जो सब जानते हो। संक्षेप में मेरे भाई···" कहकर जीवी की ओर देखते हुए बोला—"इसकी दशा तो देखो भगतजी!" और काली को लक्ष्य करके "इसे ज़रा उस महादेव तक ले चल न काली! नाना ज़रा मदद कर दोस्त!" कहता हुआ चला।

असमंजस में पड़े नाना ने कहा—"लेकिन काना भाई! तुम तो इसे नागधारा में नहलाने के लिए कह रहे थे। एक बार नहला तो लो, फिर महादेव के दर्शन···"

निःश्वास छोड़ते हुए कानजी बीच में ही बोला—"क्या पागल हुआ है? जब बेचारी जिन्दगी से ही नहा चुकी है तब इसमें नहाने से क्या होगा?" और नाना की ओर फीकी हँसी हँसते हुए कहने लगा—"इसकी ओर से और साथ ही मेरी ओर से भी एक डुबकी तू ही लगा लेना!" कानजी ने चलते-चलते ही कहा।

"लेकिन यों किसी की डुबकी से···"

कानजी फिर बीच में ही बोला—"तो ठीक है भाई, यों नहाने से किसी के पाप थोड़े ही चले जायँगे? ले ज़रा जल्दी चल काली!"

अकेले भगतजी को छोड़कर किसी की समझ में यह नहीं आया कि कानजी क्या कहना चाहता है। कानजी के पीछे भगतजी और उनकी

मण्डली दोनों बेहोश-से चले जा रहे थे।

जल्दी में कुछ आगे बढ़े हुए कानजी ने ही मुड़कर देखा और भगतजी से कहा—"तुम समझ तो गए होगे भगतजी ! मैं इसे ले जाने को आया हूँ।"

भगतजी ने एक भारी साँस ली और विचारपूर्ण मुखमुद्रा से कहा—"मैं जानता हूँ कानजी ! लेकिन अब तू इसे इस दशा में ले जाकर ही कौन-सा सुख···"

कानजी धीमा पड़ा। बोला—"सुख की तो अब बात ही जाने दो ! लेकिन फिर भी इतना तो है ही भगतजी कि इसे यों जहाँ-तहाँ टुकड़े बीन-कर खाती देखने की अपेक्षा इसे अपने पास रखने से मुझे कहीं अधिक शान्ति मिलेगी। जिस दिन तुम्हारी चिट्ठी मिली थी उसी दिन आने का इरादा था, पर मैंने सोचा कि पीछे तुम सब गड़बड़ करोगे, इसलिए मुझे नाना से भी कुछ दुराव करना पड़ा।

पीछे घिसटते हीरा ने नींद से जागते हुए की भाँति पूछा—"तो क्या तू इसे ले जाने के लिए ही आया है कानजी ?"

कानजी ने उसी दृढ़ता से परन्तु विवश आवाज़ में कहा—"हाँ हीरा !" और पीछे रही हुई काली से बोला—"काली, ज़रा जल्दी कर !" अचानक कुछ याद आते ही जेब से तीन रुपये निकाले और भगतजी को देते हुए कहा—"इन पैसों से काली को एक जोड़े कपड़े ले देना !" और काली के कुछ कहने से पहले ही उसकी नज़र जाने वाली मोटर पर पड़ी। "ठहरना !" कहकर आवाज़ लगाई। मोटर को खड़ी होते देखकर तुरन्त पीछे मुड़ा। बड़बड़ाती चलने वाली जीवी को हाथ पकड़कर आगे किया। मोटर के पास पहुँचते ही उसे दोनों हाथों से उठाकर मोटर में चढ़ा दिया। भगतजी की ओर देखते हुए कहा—"भगतजी ! हीरा दोस्त ! जिन्दगी में मिलें चाहे न मिलें, पर कभी याद ज़रूर करना ! मेरे बड़े भाई से···" गला साफ़ करके—"मेरी ओर से माफ़ी माँगना और कहना कि···" इससे ज्यादा न बोल सका। एक

बार फिर सबकी ओर देखा। भौंचक्का-सा हीरा बोल उठा—"लेकिन अरे कानजी, न जात न पाँत; क्या तुझे ऐसा करना चाहिए ?"

मोटर वाले ने कहा—"चल बैठ जा, पैट्रोल जलता है।" कानजी ने मोटर पर पैर रखते हुए इतना ही कहा—"क्यों, मुझे क्या करना चाहिए हीरा ? उस दिन अँधेरी रात में यह जो पीछे-पीछे आई थी सो किसका मुँह देखकर ?"

सारे-का-सारा टोल धूल उड़ाती जाने वाली मोटर की ओर फटी हुई आँखों से देखता हुआ ऐसे खड़ा था जैसे मानो बिजली का झटका लगने के बाद 'यह क्या हो गया ?' के विचार में मग्न हो।

सबसे पहले एक भारी साँस लेते हुए भगतजी ने ही यह कहा—"और हो ही क्या सकता है ?"

हीरा नाना की ओर कतराती नज़रों से ऐसे देख रहा था जैसे यह सब कारस्तानी उसीकी हो। जबकि भगतजी कुँवर कन्हैया-जैसे कानजी, उसके आशामय जीवन और उस सबके ऊपर फिर जाने वाली दुःखद लहरों के बारे में सोचते हुए अब भी खड़े थे। और काली को अपनी ही चिन्ता थी –'हाय हाय ! राँड मेरे कपड़े भी ले गई !'

जब सब वापस लौटे तब सामने से गरजते हुए समुद्र की भाँति मानव-मेदिनी की आवाज़ आ रही थी। पीछे से पहाड़ियों के ढाल पर चढती मोटर की 'घर्र-घर्र' सुनाई दे रही थी। और अन्त में तो वह भी जैसे वर्तमान महाकाल के प्रवाह में लीन होती जा रही हो ऐसे गहरी-से-गहरी.....

पहाड़ों के बीच सिर उठाये गुम्बद की ओर देखकर एक भारी साँस के साथ भगतजी बोले, "वाह रे, मनुष्य तेरा हृदय ! एक ओर लोहू के कुल्ले तो दूसरी ओर प्रीति के घूँट।" और आकाश की ओर अँगुली उठाये कलश को देखकर रहस्यमयी हँसी हँसने लगे।

●